कुछ विचार

[भाग : १—साहित्य और भाषा-सम्बन्धी]

प्रेमचन्द

प्रकाशक
सरस्वती प्रेस, बनारस

प्रथम संस्करण, १९३९
द्वितीय संस्करण, १९४२
तृतयी संस्करण, १९४५
मूल्य दो रुपए

मुद्रक—श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस, बनारस

विचार-क्रम

साहित्य का उद्देश्य	...	...	३
कहानी-कला (१)	...	...	२२
कहानी-कला (२)	...	...	२७
कहानी-कला (३)	...	...	३५
उपन्यास	...	...	४१
उपन्यास का विषय	...	...	५४
एक भाषण	...	...	६२
जीवन में साहित्य का स्थान	...	...	८०
उर्दू , हिन्दी और हिन्दुस्तानी	...	...	९०
राष्ट्र-भाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ		...	१०२
क़ौमी भाषा के विषय में कुछ विचार		...	१२१

साहित्य का उद्देश्य

सज्जनो,

यह सम्मेलन हमारे साहित्य के इतिहास में एक स्मरणीय घटना है। हमारे सम्मेलनों और अंजुमनों में अब तक आम तौर पर भाषा और उसके प्रचार पर ही बहस की जाती रही है। यहाँ तक कि उर्दू और हिन्दी का जो आरम्भिक साहित्य मौजूद है, उसका उद्देश्य, विचारों और भावों पर असर डालना नहीं, किन्तु केवल भाषा का निर्माण करना था। वह भी एक बड़े महत्त्व का कार्य था। जब तक भाषा एक स्थायी रूप न प्राप्त कर ले, उसमें विचारों और भावों को व्यक्त करने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी? हमारी भाषा के 'पायनियरों' ने—रास्ता साफ़ करनेवालों ने हिन्दुस्तानी भाषा का निर्माण करके जाति पर जो एहसान किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ न हों तो यह हमारी कृतघ्नता होगी।

भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण-कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो। वही भाषा, जिसमें आरम्भ में 'बागो-बहार' और 'बैताल-पचीसी' की रचना ही सबसे बड़ी साहित्य-सेवा थी, अब इस योग्य हो गई है कि उसमें शास्त्र और विज्ञान के प्रश्नों की भी विवेचना की जा सके और यह सम्मेलन इस सचाई की स्पष्ट स्वीकृति है।

भाषा बोल-चाल की भी होती है और लिखने की भी। बोल-चाल की भाषा तो मीर अम्मन और लल्लूलाल के ज़माने में भी मौजूद थी; पर उन्होंने जिस भाषा की दाग बेल डाली वह लिखने की भाषा थी और वही साहित्य है। बोल-चाल से हम अपने क़रीब के लोगों पर

अपने विचार प्रकट करते हैं—अपने हर्ष-शोक के भावों का चित्र खींचते हैं। साहित्यकार वही काम लेखनी-द्वारा करता है। हाँ, उसके श्रोताओं की परिधि बहुत विस्तृत होती है, और अगर उसके बयान में सचाई है तो शताब्दियों और युगों तक उसकी रचनाएँ हृदयों को प्रभावित करती रहती हैं।

परंतु मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि जो कुछ लिख दिया जाय, वह सब-का-सब साहित्य है। साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग़ पर असर डालने का गुण हो। और साहित्य में यह गुण पूर्णरूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी ज़माने में हम भले ही प्रभावित हुए हों; पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाइयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है; परन्तु इससे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो। फिर आप उसे जिस चौखटे में चाहें लगा सकते हैं—चिड़े की कहानी और गुलो-बुलबुल की दास्तान भी उसके लिए उपयुक्त हो सकती है।

साहित्य की बहुत-सी परिभाषाएँ की गई हैं; पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।

हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फ़िसानये अजायब की दास्तान

थी, कहीं बोस्ताने ख़याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति ; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन ; दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं श्रृंगारिक भावों को प्रकट करने में कवि-मण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नई शब्द-योजना, नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफ़ी था—चाहे वह वस्तु-स्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना (=घोंसला) और क़फ़स (=पींजरा), बर्क़ (=बिजली) और ख़िरमन की कल्पनाएँ विरह-दशाओं के वर्णन में निराशा और वेदना की विविध अवस्थाएँ, इस ख़ूबी से दिखाई जाती थीं कि सुननेवाले दिल थाम लेते थे। और आज भी इस ढंग की कविता कितनी लोक-प्रिय है, इसे हम और आप ख़ूब जानते हैं।

(निस्सन्देह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है ; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होनेवाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो—जिसमें दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकता है ? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक अंग-मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी और क्या उर्दू—कविता में दोनों की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय में जो लोक-रुचि थी,

उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था। सराहना और क़द्रदानी की हवस तो हरएक की होती है। कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की क़द्रदानी रईसों और अमीरों के सिवा और कौन कर सकता है ? हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छाई हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।

हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाक़ी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेज़ी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन-बहलाव की चीज़ नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता; किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है, और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत् आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढ़ता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है; किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिससे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।

नीति-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुज़रती है, वही अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो,—जो हममें सच्चा सङ्कल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।

पुराने ज़माने में समाज की लगाम मज़हब के हाथ में थी। मनुष्य की आध्यात्मिक और नैतिक सभ्यता का आधार धार्मिक आदेश था और वह भय या प्रलोभन से काम लेता था—पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे।

अब, साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्य-बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिये कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वञ्चित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वका-

लत करना उसका फर्ज़ है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत् करके अपना यत्न सफल समझता है।

पर साधारण वकीलों को तरह साहित्यकार अपने मुवक्किल की ओर से उचित-अनुचित—सब तरह के दावे नहीं पेश करता, अतिरंजना से काम नहीं लेता, अपनी ओर से बातें गढ़ता नहीं। वह जानता है कि इन युक्तियों से वह समाज की अदालत पर असर नहीं डाल सकता। उस अदालत का हृदय-परिवर्तन तभी सम्भव है जब आप सत्य से तनिक भी विमुख न हों, नहीं तो अदालत की धारणा आपकी ओर से ख़राब हो जायगी और वह आपके खिलाफ़ फैसला सुना देगी। वह कहानी लिखता है पर वास्तविकता का ध्यान रखते हुए, मूर्ति बनाता है पर ऐसी कि उसमें सजीवता हो और भावव्यञ्जकता भी—वह मानव-प्रकृति का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता है, मनोविज्ञान का अध्ययन करता है और इसका यत्न करता है कि उसके पात्र हर हालत में और हर मौक़े पर इस तरह आचरण करें, जैसे रक्त-मांस का बना मनुष्य करता है; अपनी सहज सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण वह जीवन के उन सूक्ष्म स्थानों तक जा पहुँचता है जहाँ मनुष्य अपनी मनुष्यता के कारण पहुँचने में असमर्थ होता है।

आधुनिक साहित्य में वस्तु-स्थिति-चित्रण की प्रवृत्ति इतनी बढ़ रही है कि आज की कहानी यथासम्भव प्रत्यक्ष अनुभवों की सीमा के बाहर नहीं जाती। हमें केवल इतना सोचने से ही सन्तोष नहीं होता कि मनोविज्ञान की दृष्टि से ये सभी पात्र मनुष्यों से मिलते-जुलते हैं; बल्कि हम यह इत्मीनान चाहते हैं कि वे सचमुच मनुष्य हैं, और लेखक ने यथासम्भव उनका जीवन-चरित्र ही लिखा है; क्योंकि कल्पना के गढ़े हुए आदमियों में हमारा विश्वास नहीं है, उनके कार्यों और विचारों से हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखक ने जो सृष्टि की है, वह प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर की गई है और अपने पात्रों की ज़बान से वह ख़ुद बोल रहा है।

इसीलिए साहित्य को कुछ समालोचकों ने लेखक का मनोवैज्ञानिक जीवन-चरित्र कहा है।

एक ही घटना या स्थिति से सभी मनुष्य समान रूप में प्रभावित नहीं होते। हर आदमी की मनोवृत्ति और दृष्टिकोण अलग है। रचना-कौशल इसी में है कि लेखक जिस मनोवृत्ति या दृष्टिकोण से किसी बात को देखे, पाठक भी उसमें उससे सहमत हो जाय। यही उसकी सफलता है। इसके साथ ही हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों को विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।

सुधार की जिस अवस्था में वह हो उससे अच्छी अवस्था आने की प्रेरणा हर आदमी में मौजूद रहती है। हममें जो कमज़ोरियाँ हैं, वह मर्ज़ की तरह हमसे चिमटी हुई हैं। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य एक प्राकृतिक बात है और रोग उसका उलटा, उसी तरह नैतिक और मानसिक स्वास्थ्य भी प्राकृतिक बात है और हम मानसिक तथा नैतिक गिरावट से उसी तरह संतुष्ट नहीं रहते जैसे कोई रोगी अपने रोग से संतुष्ट नहीं रहता। जैसे वह सदा किसी चिकित्सक की तलाश में रहता है, उसी तरह हम भी इस फ़िक्र में रहते हैं कि किसी तरह अपनी कमज़ोरियों को परे फेंककर अधिक अच्छे मनुष्य बनें। इसी लिए हम साधु-फ़क़ीरों की खोज में रहते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, बड़े-बूढ़ों के पास बैठते हैं, विद्वानों के व्याख्यान सुनते हैं और साहित्य का अध्ययन करते हैं।

और हमारी सारी कमज़ोरियों की ज़िम्मेदारी हमारी कुरुचि और प्रेम-भाव से वंचित होने पर है। जहाँ सच्चा सौन्दर्य-प्रेम है, जहाँ प्रेम की विस्तृति है, वहाँ कमज़ोरियाँ कहाँ रह सकती हैं? प्रेम ही तो आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमज़ोरियाँ इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हममें सौन्दर्य

की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता। उसका एक वाक्य, एक शब्द, एक संकेत, इस तरह हमारे अन्दर जा बैठता है कि हमारा अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। पर जब तक कलाकार ख़ुद सौन्दर्य-प्रेम से छककर मस्त न हो और उसकी आत्मा स्वयं इस ज्योति से प्रकाशित न हो, वह हमें यह प्रकाश क्योंकर दे सकता है ?

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु ? प्रकटतः यह प्रश्न निरर्थक-सा मालूम होता है ; क्योंकि सौन्दर्य के विषय में हमारे मन में कोई शंका—संदेह नहीं। हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, उषा और संध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगन्धि-भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कल-कल-निनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं,—यही सौन्दर्य है।

इन दृश्यों को देखकर हमारा अंतःकरण क्यों खिल उठता है ? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वर साम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्त्वों के समानुपात में संयोग से हुई है ; इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य की, सामंजस्य की, खोज में रहती है। साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है, नाश नहीं। वह हममें वफ़ादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहाँ ये भाव हैं वहीं दृढ़ता है और जीवन है ; जहाँ इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है—द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। यह बिलगाव—विरोध प्रकृति-विरुद्ध जीवन के लक्षण हैं, जैसे रोग प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार का चिह्न है। जहाँ प्रकृति से अनुकूलता और साम्य है वहाँ संकीर्णता और स्वार्थ का अस्तित्व कैसे संभव होगा ? जब हमारी आत्मा प्रकृति के मुक्त वायुमण्डल में पालित-पोषित होती है, तो नीचता—दुष्टता के कीड़े अपने आप हवा और रोशनी से मर जाते हैं। प्रकृति से अलग होकर अपने को सीमित कर लेने से ही यह सारी मानसिक और भावगत बीमारियाँ पैदा होती हैं। साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और

स्वाधीन बनाता है ; दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।

'प्रगतिशील लेखक-संघ', यह नाम ही मेरे विचार से ग़लत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है ; अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अन्दर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिए उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छन्दता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसलिए, वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अन्त कर देना चाहता है जिससे दुनिया जीने और मरने के लिए इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाय। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बन्धन में पड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जायँ कि वह ग़ुलामी और ग़रीबी से छुटकारा पा जाय ? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव करता है, उतना ही उसकी रचना में ज़ोर और सचाई पैदा होती है। अपनी अनुभूतियों को वह जिस क्रमानुपात में व्यक्त करता है, वही उसकी कला-कुशलता का रहस्य है ; पर शायद इस विशेषता पर ज़ोर देने की ज़रूरत इसलिए पड़ी कि प्रगति या उन्नति से प्रत्येक लेखक या ग्रंथकार एक ही अर्थ नहीं ग्रहण करता। जिन अवस्थाओं को एक समुदाय उन्नति समझ सकता है, दूसरा समुदाय असंदिग्ध अवनति मान सकता है ; इसलिए साहित्यकार अपनी कला को किसी उद्देश्य के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही असर क्यों न पड़े।

उन्नति से हमारा तात्पर्य उस स्थिति से है जिससे हममें दृढ़ता और

कर्म-शक्ति उत्पन्न हो, जिससे हमें अपनी दुःखावस्था की अनुभूति हो, हम देखें कि किन अन्तर्बाह्य कारणों से हम इस निर्जीवता और ह्रास की अवस्था को पहुँच गये, और उन्हें दूर करने की कोशिश करें।

हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे संसार की नश्वरता का आधिपत्य हमारे हृदय पर और दृढ़ हो जाय, जिनसे हमारे हृदयों में नैराश्य छा जाय। वे प्रेम-कहानियाँ, जिनसे हमारे मासिक-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते हैं, हमारे लिए अर्थहीन हैं अगर वे हममें हरकत और गरमी नहीं पैदा करतीं। अगर हमने दो नवयुवकों की प्रेम-कहानी कह डाली, पर उससे हमारे सौन्दर्य-प्रेम पर कोई असर न पड़ा और पड़ा भी तो केवल इतना कि हम उनकी विरह व्यथा पर रोये, तो इससे हममें कौन-सी मानसिक या रुचि-सम्बन्धी गति पैदा हुई? इन बातों से किसी ज़माने में हमें भावावेश हो जाता रहा हो; पर आज के लिए वे बेकार हैं। इस भावोत्तेजक कला का अब ज़माना नहीं रहा। अब तो हमें उस कला की आवश्यकता है जिसमें कर्म का सन्देश हो, अब तो हज़रते इक़बाल के साथ हम भी कहते हैं—

रमूज़े हयात जोई जुज़दर तपिश नयाबी,
दरकुलज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जूरा।
ब आशियाँ न नशीनम ज़ो लज़्ज़ते परवाज़,
गहे बशाख़े गुलम गहे बरलबे जूयम।

[अर्थात्, अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का—सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। आनन्द पाने लिए मैं घोंसले में कभी बैठता नहीं,—कभी फूलों की टहनियों पर तो कभी नदी-तट पर होता हूँ।]

अतः हमारे पंथ में अहंवाद अथवा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्ति-रूप में उपयोगी है और न समुदाय-रूप में।

मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। निस्सन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य-वृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है; पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनन्द स्वतः एक उपयोगिता-युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी। आसमान पर छाई लालिमा निस्सन्देह बड़ा सुन्दर दृश्य है; परन्तु आषाढ़ में अगर आकाश पर वैसी लालिमा छा जाय, तो वह हमें प्रसन्नता देनेवाली नहीं हो सकती। उस समय तो हम आसमान पर काली-काली घटाएँ देखकर ही आनन्दित होते हैं। फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है, प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमें इसी लिए आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियों और विचारों से हमें आनन्द मिलता है, वे इसी वृद्धि और विकास के सहायक हैं। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है।

परन्तु सौन्दर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुःख का कारण हो सकती है। एक रईस अपने सुरभित सुरम्य उद्यान में बैठकर जब चिड़ियों का कल-गान सुनता है तो उसे स्वर्गीय सुख की प्राप्ति होती है; परन्तु एक दूसरा सज्ञान मनुष्य वैभव की इस सामग्री को घृणिततम वस्तु समझता है।

बन्धुत्व और समता, सभ्यता तथा प्रेम सामाजिक जीवन के आरम्भ से ही, आदर्शवादियों का सुनहला स्वप्न रहे हैं। धर्म-प्रवर्तकों ने धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक बन्धनों से इस स्वप्न को सचाई बनाने का सतत, किन्तु निष्फल यत्न किया है। महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा,

हज़रत मुहम्मद आदि सभी पैग़म्बरों और धर्म प्रवर्तकों ने नीति की नींव पर इस समता की इमारत खड़ी करनी चाही ; पर किसी को सफलता न मिली और छोटे बड़े का भेद जिस निष्ठुर रूप में प्रकट हो रहा है, शायद कभी न हुआ था।

'आजमाये को आजमाना मूर्खता है', इस कहावत के अनुसार यदि हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें, तो विफलता ही मिलेगी। क्या हम इस सपने को उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि समझकर भूल जायँ ? तब तो मनुष्य की उन्नति और पूर्णता के लिए कोई आदर्श ही बाक़ी न रह जायगा। इससे कहीं अच्छा है कि मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाय। जिस आदर्श को हमने सभ्यता के आरम्भ से पाला है, जिसके लिए मनुष्य ने, ईश्वर जाने कितनी कुरबानियाँ की हैं ; जिसकी परिणति के लिए धर्मों का आविर्भाव हुआ, मानव-समाज का इतिहास जिस आदर्श की प्राप्ति का इतिहास है, उसे सर्वमान्य समझकर, एक अमिट सचाई समझकर, हमें उन्नति के मैदान में क़दम रखना है। हमें एक ऐसे नये संघटन को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना है जहाँ समानता केवल नैतिक बन्धनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर ले, हमारे साहित्य को उसी आदर्श को अपने सामने रखना है।

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की क़द्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अंतःपुर और बँगलों की ओर उठती थी। झोंपड़े और खँडहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो इनका मज़ाक उड़ाने के लिए। ग्रामवासी की देहाती वेष-भूषा और तौर-तरीके पर हँसने के लि , उसका शीन-क़ाफ दुरुस्त न होना या मुहाविरों का ग़लत उपयोग

उसके व्यंग्य विद्रूप की स्थायी सामग्री थी। वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी आकांक्षाएँ हैं,—यह कला की कल्पना के बाहर की बांत थी।

कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप-पूजा का, शब्द-योजना का, भाव-निबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है,—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। हमारे उस कलाकार के विचार से जीवन का चरम लक्ष्य यही है। उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित् वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री है,—उस बच्चोंवाली ग़रीब रूप-रहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है; उसने निश्चय कर लिया है कि रँगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्सन्देह सुन्दरता का वास है,—उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ ?

पर यह संकीर्ण-दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है, तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है। हाँ, उसमें नफ़ासत नहीं, दिखावा नहीं, सुकुमारता नहीं।

हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप-गर्व और चोंचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्म-त्याग का। उसे तो इक़बाल के साथ कहना होगा—

अज़ दस्ते ज़ुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर ऐ हिम्मते मरदाना।

[अर्थात् मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मरदाना, क्यों न अपनी कमन्द में तू खुदा को ही फाँस लाये ?]

अथवा

चूँ मौज साज़े बजूदम ज़ं सैल बेपरवास्त,
गुमां मबर कि दरीं बहर साहिले जोयम।

[अर्थात् तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी प्रवाह की ओर से बेपरवाह है, यह न सोचो कि इस समुद्र में मैं किनारा ढूँढ़ रहा हूँ।]

और यह अवस्था उस समय पैदा होगी जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग़ की चहारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु-मण्डल होगा जो सारे भू-मण्डल को घेरे हुए है। तब कुरुचि हमारे लिए सह्य न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कसकर तैयार हो जायँगे। हम जब ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगे कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की .गुलामी करें, तभी हम केवल काग़ज़ के पृष्ठों पर सृष्टि करके ही सन्तुष्ट न हो जायँगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।

साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरञ्जन का सामान जुटाना नहीं है,—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।

हमें अक्सर यह शिकायत होती है कि साहित्यकारों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं,—अर्थात् भारत के साहित्यकारों के लिए। सभ्य देशों में तो साहित्यकार समाज का सम्मानित सदस्य है और बड़े-बड़े अमीर और मन्त्रि-मण्डल के सदस्य उससे मिलने में अपना गौरव समझते हैं ; परन्तु हिन्दुस्तान तो अभी मध्य-युग की अवस्था में

पड़ा हुआ है। यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रान्तियों से बेख़बर हो जो समाज में रही हैं;—अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है। जब साहित्यकार बनने के लिए अनुकूल रुचि के सिवा और कोई क़ैद नहीं रही,—जैसे महात्मा बनने के लिए किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता नहीं,—आध्यात्मिक उच्चता ही काफ़ी है, तो महात्मा लोग दरदर फिरने लगे, उसी तरह साहित्यकार भी लाखों निकल आये।

इसमें शक नहीं कि साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता; पर यदि हम शिक्षा और जिज्ञासा से प्रकृति की इस देन को बढ़ा सकें, तो निश्चय ही हम साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे। अरस्तू ने और दूसरे विद्वानों ने भी साहित्यकार बननेवालों के लिए कड़ी शर्तें लगाई हैं; और उनकी मानसिक, नैतिक आध्यात्मिक और भावगत सभ्यता तथा शिक्षा के लिए सिद्धान्त और विधियाँ निश्चित कर दी गई हैं; मगर आज तो हिन्दी में साहित्यकार के लिए प्रवृतिमात्र अलम् समझी जाती है, और किसी प्रकार की तैयारी की उसके लिए आवश्यकता नहीं। वह राजनीति, समाज-शास्त्र या मनोविज्ञान से सर्वथा अपरिचित हो, फिर भी वह साहित्यकार है।

साहित्यकार के सामने आजकल जो आदर्श रखा गया है, उसके अनुसार ये सभी विद्याएँ उसके विशेष अंग बन गई हैं और साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किन्तु उसे समाज के एक अङ्ग-रूप में देखता है। इसलिए नहीं कि वह समाज पर हुकूमत करे, उसे अपने स्वार्थ-साधना का औज़ार बनाये,—मानो उसमें और समाज में सनातन शत्रुता है, बल्कि इसलिए कि समाज के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व क़ायम है और समाज से अलग होकर उसका मूल्य शून्य के बराबर हो जाता है।

हममें से जिन्हें सर्वोत्तम शिक्षा और सर्वोत्तम मानसिक शक्तियाँ मिली हैं, उन पर समाज के प्रति उतनी ही ज़िम्मेदारी भी है। हम उस मानसिक पूँजीपति को पूजा के योग्य न समझेंगे जो समाज के पैसे से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर उसे शुद्ध स्वार्थ-साधन में लगाता है। समाज से निजी लाभ उठाना ऐसा काम है जिसे कोई साहित्यकार कभी पसन्द न करेगा। उस मानसिक पूँजीपति का कर्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज के लाभ से अधिक ध्यान देने योग्य समझे—अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे। वह साहित्य के किसी भी विभाग में प्रवेश क्यों न करे,—उसे उस विभाग से विशेषतः और सब विभागों से सामान्यतः परिचय हो।

अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उनमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए, आशुबुद्धि और तेज़ क़लम काफी है; पर यही विचार हमारी साहित्यिक अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मान-दण्ड ऊँचा करना होगा जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही सन्तोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ायें।

हमें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल विषय चुन लेने चाहिये और विषय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहिये। हम जिस आर्थिक अवस्था में ज़िन्दगी बिता रहे हैं, उसमें यह काम कठिन अवश्य है; पर हमारा आदर्श ऊँचा रहना चाहिये। हम पहाड़ की चोटी तक न पहुँच सकेंगे, तो कमर तक तो पहुँच ही जायँगे जो जमीन पर पड़े रहने से

कहीं अच्छा है। अगर हमारा अन्तर प्रेम की ज्योति से प्रकाशित हो और सेवा का आदर्श हमारे सामने हो, तो ऐसी कोई कठिनाई नहीं जिस पर हम विजय न प्राप्त कर सकें।

जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मन्दिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की आवश्यकता है जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये ? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों ? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है, - हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो ? दूसरों से ज़्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये ? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें ? हम तो समाज के झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िन्दगी के साथ ऊँची निगाह हमारे जीवन का लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता। उसे अपनी मनस्तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं,—उससे तो उसे घृणा होती है। वह तो इक़बाल के साथ कहता है—

मर्दुम आज़ादम आग़ूना रायूरम कि मरा,
मीतवां कुश्तव येक जामे जुलाले दीगरां।

[अर्थात् मैं आज़ाद हूँ और इतना हयादार हूँ कि मुझे दूसरों के निथरे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है।]

हमारी परिषद् ने कुछ इसी प्रकार के सिद्धान्तों के साथ कर्म-क्षेत्र में प्रवेश किया है। साहित्य का शराब-कबाब और राग-रंग का मुखापेक्षी बना रहना उसे पसन्द नहीं। वह उसे उद्योग और कर्म का सन्देश-वाहक बनाने का दावेदार है। उसे भाषा से बहस नहीं। आदर्श व्यापक होने से भाषा अपने आप सरल हो जाती है। भाव-सौन्दर्य बनाव-सिंगार

से बेपरवाई ही दिखा सकता है। जो साहित्यकार अमीरों का मुँह जोहनेवाला है वह रईसी रचना-शैली स्वीकार करता है, जो जन-साधारण का है वह जन-साधारण की भाषा में लिखता है। हमारा उद्देश्य देश में ऐसा वायु-मण्डल उत्पन्न कर देना है, जिसमें अभीष्ट प्रकार का साहित्य उत्पन्न हो सके और पनप सके। हम चाहते हैं कि साहित्य-केन्द्रों में हमारी परिषदें स्थापित हों और वहाँ साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर नियम-पूर्वक चर्चा हो, नियम पढ़े जायँ, बहस हो, आलोचना-प्रत्यालोचना हो। तभी वह वायु-मण्डल तैयार होगा। तभी साहित्य में नये युग का आविर्भाव होगा।

हम हरएक सूबे में हरएक ज़बान में ऐसी परिषदें स्थापित कराना चाहते हैं जिसमें हरएक भाषा में अपना सन्देश पहुँचा सकें। यह समझना भूल होगी कि यह हमारी कोई नई कल्पना है। नहीं, देश के साहित्य-सेवियों के हृदयों में सामुदायिक भावनाएँ विद्यमान हैं। भारत की हरएक भाषा में इस विचार के बीज प्रकृति और परिस्थिति ने पहले से बो रखे हैं, जगह-जगह उसके अँखुये भी निकलने लगे हैं। उसको सींचना, उसके लक्ष्य को पुष्ट करना हमारा उद्देश्य है।

हम साहित्यकारों में कर्मशक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है; पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। कर्माभाव ही उसका गुण था; क्योंकि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है। अगर कोई आदमी धार्मिक होकर अपनी धार्मिकता पर गर्व करे, तो इससे कहीं अच्छा है कि वह धार्मिक न होकर 'खाओ-पिओ मौज करो' का क़ायल हो। ऐसा स्वच्छन्दाचारी तो ईश्वर की दया का अधिकारी हो भी सकता है; पर धार्मिकता का अभिमान रखनेवाले के लिए इसकी सम्भावना नहीं।

जो हो, जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी

हलका करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था जिसका ग़म दूसरे खाते थे ; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो,—जो हममें गति और संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं ; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

['प्रगतिशील लेखक-संघ' के लखनऊ अधिवेशन में सभापति के आसन से दिया हुआ एक भाषण।]

—

कहानी-कला

[१]

गल्प, आख्यायिका या छोटी कहानी लिखने की प्रथा प्राचीन काल से चली आती है। धर्म-ग्रन्थों में जो दृष्टान्त भरे पड़े हैं, वे छोटी कहानियाँ ही हैं ; पर कितनी उच्च कोटि की। महाभारत, उपनिषद्, बुद्ध-जातक, बाइबिल, सभी सद्ग्रन्थों में जन-शिक्षा का यही साधन उपयुक्त समझा गया है। ज्ञान और तत्त्व की बातें इतनी सरल रीति से और क्योंकर समझाई जातीं ? किन्तु प्राचीन ऋषि इन दृष्टान्तों द्वारा केवल आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों का निरूपण करते थे। उनका अभिप्राय केवल मनोरंजन न होता था। सद्ग्रन्थों के रूपकों और बाइबिल के parables देखकर तो यही कहना पड़ता है कि अगले जो कुछ कर गये, वह हमारी शक्ति से बाहर है, कितनी विशुद्ध कल्पना, कितना मौलिक निरूपण, कितनी ओजस्विनी रचना-शैली है कि उसे देखकर वर्तमान साहित्यिक बुद्धि चकरा जाती है। आजकल आख्या-यिका का अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। उसमें प्रेम की कहानियाँ, जासूसी क़िस्से, भ्रमण-वृत्तान्त, अद्भुत घटना, विज्ञान की बातें, यहाँ तक कि मित्रों की गप-शपसी शामिल कर दी जाती हैं। एक अँगरेज़ी समालोचक के मतानुसार तो कोई रचना, जो पन्द्रह मिनटों में पढ़ी जा सके, गल्प कही जा सकती है। और तो और, उसका यथार्थ उद्देश्य इतना अनिश्चित हो गया है कि उसमें किसी प्रकार का उपदेश होना दूषण समझा जाने लगा है। वह कहानी सबसे नाक़िस समझी जाती है, जिसमें उपदेश की छाया भी पड़ जाय।

आख्यायिकाओं द्वारा नैतिक उपदेश देने की प्रथा धर्मग्रन्थों ही में नहीं, साहित्य-ग्रन्थों में भी प्रचलित थी। कथा-सरित्सागर इसका उदाहरण है। इसके पश्चात् बहुत-सी आख्यायिकाओं को एक शृंखला

में बाँधने की प्रथा चली। बैताल-पच्चीसी और सिंहासन-बत्तीसी इसी श्रेणी की पुस्तकें हैं। उनमें कितनी नैतिक और धार्मिक समस्याएँ हल की गई हैं, यह उन लोगों से छिपा नहीं, जिन्होंने उनका अध्ययन किया है। अरबी में सहस्र-रजनी-चरित्र इसी भाँति का अद्भुत संग्रह है; किन्तु उसमें किसी प्रकार का उपदेश देने की चेष्टा नहीं की गई। उसमें सभी रसों का समावेश है, पर अद्भुत रस ही की प्रधानता है, और अद्भुत रस में उपदेश की गुञ्जाइश नहीं रहती। कदाचित् उसी आदर्श को लेकर इस देश में शुक बहत्तरी के ढङ्ग की कथाएँ रची गईं, जिनमें स्त्रियों की बेवफ़ाई का राग अलापा गया है। यूनान में हकीम ईसप ने एक नया ही ढङ्ग निकाला। उन्होंने पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा उपदेश देने का आविष्कार किया।

मध्यकाल काव्य और नाटक-रचना का काल था; आख्यायिकाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। उस समय कहीं तो भक्ति-काव्य की प्रधानता रही, कहीं राजाओं के कीर्तिगान की। हाँ, शेखसादी ने फ़ारसी में गुलिस्ताँ-बोस्ताँ की रचना करके आख्यायिकाओं की मर्यादा रखी। यह उपदेश-कुसुम इतना मनोहर और सुन्दर है कि चिरकाल तक प्रेमियों के हृदय इसके सुगन्ध से रञ्जित होते रहेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में फिर आख्यायिकाओं की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति हुई; और तभी से सभ्य-साहित्य में इनका विशेष महत्त्व है। योरप की सभी भाषाओं में गल्पों का यथेष्ट प्रचार है; पर मेरे विचार में फ्रान्स और रूस के साहित्य में जितनी उच्च कोटि की गल्पें पाई जाती हैं, उतनी अन्य योरपीय भाषाओं में नहीं। अँगरेज़ी में भी डिकेंस, वेल्स, हार्डी, किप्लिङ्ग, शार्लट यंग, ब्रांटी आदि ने कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन इनकी रचनाएँ गाई-डी० मोपासाँ, बालज़क या पियेर-लोटी के टक्कर की नहीं। फ्रान्सीसी कहानियों में सरसता की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त मोपासाँ और बालज़क ने आख्यायिका के आदर्श को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनमें आध्यात्मिक या सामाजिक गुत्थियाँ अवश्य सुलझाई गई हैं। रूस में सबसे उत्तम कहानियाँ काउंट टालस्टाय की

हैं। इनमें कई तो ऐसी हैं, जो प्राचीन काल के दृष्टान्तों की कोटि की हैं। चेकाफ़ ने बहुत कहानियाँ लिखी हैं, और योरप में उनका प्रचार भी बहुत है; किन्तु उनमें रूस के विलास-प्रिय समाज के जीवन-चित्रों के सिवा और कोई विशेषता नहीं। डास्टावेस्की ने भी उपन्यासों के अतिरिक्त कहानियाँ लिखी हैं; पर उनमें मनोभावों की दुर्बलता दिखाने ही की चेष्टा की गई है। भारत में बंकिमचन्द्र और डाक्टर रवीन्द्रनाथ ने कहानियाँ लिखी हैं, और उनमें से कितनी ही बहुत उच्च कोटि की हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि आख्यायिका और उपन्यास में आकार के अतिरिक्त और भी कोई अन्तर है? हाँ, है और बहुत बड़ा अन्तर है। उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना ड्रामा से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायें, चाहे जितने दृश्य दिखायें, चाहे जितने चरित्र खींचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएँ और चरित्र एक ही केन्द्र पर आकर मिल जायँ। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं; पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुञ्जाइश नहीं; बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिये। उपन्यास में आपकी क़लम में जितनी शक्ति हो उतना ज़ोर दिखाइये, राजनीति पर तर्क कीजिये, किसी महफ़िल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिये; (भाषा सरस होनी चाहिये) ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफ़िल के सामने से चले जायँगे, और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहाँ तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिये, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा, कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिये। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न

धन है, न समय। यहाँ तो सरलता में सरलता पैदा कीजिये, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है जिसमें गायक महफ़िल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।

हम जब किसी अपरिचित प्राणी से मिलते हैं, तो स्वभावतः यह जानना चाहते हैं कि यह कौन है, पहले उससे परिचय करना आवश्यक समझते हैं। पर आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं पुलिसकोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अँग्रेज़ी आख्यायिकाओं की नक़ल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरपवालों की देखा-देखी यन्त्रों-द्वारा, डायरी या टिप्पणियों-द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी प्रथाओं पर रचना की है; पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियों के लिए किसी अन्त की भी ज़रूरत नहीं समझते। इसका कारण यही है कि वे लोग कहानियाँ केवल मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं। आपको एक लेडी लन्दन के किसी होटल में मिल जाती है। उसके साथ उसकी वृद्धा माता भी है। माता कन्या से किसी विशेष पुरुष से विवाह करने के लिए आग्रह करती है। लड़की ने अपना दूसरा वर ठीक कर रखा है। माँ बिगड़कर कहती है, मैं तुझे अपना धन न दूँगी। कन्या कहती है, मुझे इसकी परवा नहीं। अन्त में माता अपनी लड़की से रूठकर चली जाती है। लड़की निराशा की दशा में बैठी है कि उसका अपना पसन्द किया युवक आता है। दोनों में बातचीत होती है। युवक का प्रेम सच्चा है। वह बिना धन के ही विवाह करने पर राज़ी हो जाता है। विवाह होता है। कुछ दिनों तक स्त्री-पुरुष सुख-पूर्वक रहते हैं। इसके बाद पुरुष धनाभाव से किसी दूसरी धनवान् स्त्री की टोह लेने लगता है। उसकी स्त्री को इसकी ख़बर हो जाती है, और वह एक दिन घर से निकल

जाती है। बस, कहानी समाप्त कर दी जाती है; क्योंकि realists, अर्थात् यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नज़र नहीं आता; बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और भलाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखाने से फ़ायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण-मात्र नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है, जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिये। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिये कि सत्य से दूर न जाना पड़े।

कहानी-कला

[२]

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब-कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब-कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।

इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अन्त तक हत्या, संग्राम और धोखे का ही प्रदर्शन है, जो असुन्दर है, इसलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहङ्कार की नीच से नीच, ईर्ष्या की अधम से अधम घटनाएँ आपको वहाँ मिलेंगी, और आप सोचने लगेंगे, 'मनुष्य इतना अमानुष है! थोड़े-से स्वार्थ के लिए भाई, भाई की हत्या कर डालता है, बेटा बाप की हत्या कर डालता है और राजा असंख्य प्रजा की हत्या कर डालता है!' उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है आनन्द नहीं, और जो वस्तु आनन्द नहीं प्रदान कर सकती वह सुन्दर नहीं हो सकती, और जो सुन्दर नहीं हो सकती वह सत्य भी नहीं हो सकती। जहाँ आनन्द है वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है; पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसी लिए वह सत्य है।

मनुष्य ने जगत में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है उसी को साहित्य कहते हैं, और कहानी भी साहित्य का एक भाग है।

मनुष्य-जाति के लिए मनुष्य ही सबसे विकट पहेली है। वह ख़ुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है,—अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है,—अन्तर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का

मिश्रण करके उसे आनन्दप्रद बना देता है, इसी लिए, अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य-मात्र के लिए।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कहानी या आख्यायिका साहित्य का एक प्रधान अंग है ; आज से नहीं, आदि काल से ही। हाँ, आजकल की आख्यायिका और प्राचीन काल की आख्यायिका में, समय की गति और रुचि के परिवर्तन से, बहुत कुछ अन्तर हो गया है। प्राचीन आख्यायिका कुतूहल प्रधान होती थी या अध्यात्म-विषयक। उपनिषद् और महाभारत में आध्यात्मिक रहस्यों को समझाने के लिए आख्यायिकाओं का आश्रय लिया गया है। बौद्ध-जातक भी आख्यायिका के सिवा और क्या हैं ? बाइबिल में भी दृष्टान्तों और आख्यायिकाओं के द्वारा ही धर्म के तत्त्व समझाये गये हैं।— सत्य इस रूप में आकर साकार हो जाता है और तभी जनता उसे समझती है और उसका व्यवहार करती है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरञ्जित होकर कहानी बन जाती हैं।

मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ-जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है; मगर कहानी के पात्रों के सुख-दुःख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते,—जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है, इतना ही नहीं, बल्कि कहानी पढ़कर वे लोग भी रोते या हँसते देखे जाते हैं, जिन पर साधारणतः सुख-दुःख का कोई असर नहीं पड़ता। जिनकी आँखें

श्मशान में या क़ब्रिस्तान में भी सजल नहीं होतीं, वे लोग भी उपन्यास के मर्मस्पर्शी स्थलों पर पहुँचकर रोने लगते हैं।

शायद इसका यह कारण भी हो कि स्थूल प्राणी सूक्ष्म मन के उतने समीप नहीं पहुँच सकते, जितने कि कथा के सूक्ष्म चरित्र के। कथा के चरित्रों और मन के बीच में जड़ता का वह पर्दा नहीं होता जो एक मनुष्य के हृदय को दूसरे मनुष्य के हृदय से दूर रखता है। और अगर हम यथार्थ को हू-बहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहाँ है ? कला केवल यथार्थ की नक़ल का नाम नहीं है।

कला दीखती तो यथार्थ है ; पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो। उसका माप-दण्ड भी जीवन के माप-दण्ड से अलग है। जीवन में बहुधा हमारा अन्त उस समय हो जाता है जब यह वांछनीय नहीं होता। जीवन किसी का दायी नहीं है ; उसके सुख दुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई क्रम,—कोई सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता,—कम से कम मनुष्य के लिए वह अज्ञेय है। लेकिन, कथा-साहित्य मनुष्य का रचा हुआ जगत् है और परिमित होने के कारण सम्पूर्णतः हमारे सामने आ जाता है, और जहाँ वह हमारी मानवी न्याय-बुद्धि या अनुभूति का अतिक्रमण करता हुआ पाया जाता है, हम उसे दण्ड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कथा में अगर किसी को सुख प्राप्त होता है तो इसका कारण बताना होगा, दुःख भी मिलता है तो उसका कारण बताना होगा। यहाँ कोई चरित्र मर नहीं सकता जबतक कि मानव-न्याय-बुद्धि उसकी मौत न माँगे। स्रष्टा को जनता की अदालत में अपनी हरएक कृति के लिए जवाब देना पड़ेगा। कला का रहस्य भ्रान्ति है, पर, वह भ्रान्ति जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।

हमें यह स्वीकार कर लेने में संकोच न होना चाहिये कि उपन्यासों ही की तरह आख्यायिका की कला भी हमने पच्छिम से ली है,—कम से कम इसका आज का विकसित रूप तो पच्छिम का है ही। अनेक कारणों से जीवन की अन्य धाराओं की तरह ही साहित्य में भी हमारी

प्रगति रुक गई और हमने प्राचीन से जौ भर इधर-उधर हटना भी निषिद्ध समझ लिया। साहित्य के लिए प्राचीनों ने जो मर्यादाएँ बाध दी थीं, उनका उल्लंघन करना वर्जित था, अतएव, काव्य, नाटक, कथा,—किसी में भी हम आगे कदम न बढ़ा सके। कोई वस्तु बहुत सुन्दर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है जबतक उसमें कुछ नवीनता न लाई जाय। एक ही तरह के नाटक, एक ही तरह के काव्य, पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जाता है और वह कोई नई चीज़ चाहता है,—चाहे, वह उतनी सुन्दर और उत्कृष्ट न हो। हमारे यहाँ या तो यह इच्छा उठी ही नहीं, या हमने उसे इतना कुचला कि वह जड़ीभूत हो गई। पश्चिम प्रगति करता रहा,—उसे नवीनता की भूख थी, मर्यादाओं की बेड़ियों से चिढ़। जीवन के हरएक विभाग में उसकी इस अस्थिरता की, असन्तोष की, बेड़ियों से मुक्त हो जाने की, छाप लगी हुई है। साहित्य में भी उसने क्रान्ति मचा दी।

शेक्सपियर के नाटक अनुपम हैं; पर आज उन नाटकों का जनता के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। आज के नाटक का उद्देश्य कुछ और है, आदर्श कुछ और है, विषय कुछ और है, शैली कुछ और है। कथा साहित्य में भी विकास हुआ और उसके विषय में चाहे उतना बड़ा परिवर्तन न हुआ हो; पर शैली तो बिल्कुल ही बदल गई। अलिफ़लैला उस वक्त का आदर्श था,—उसमें बहुरूपता थी, वैचित्र्य था, कुतूहल था, रोमान्स था;—पर उसमें जीवन की समस्याएँ न थीं, मनोविज्ञान के रहस्य न थे, अनुभूतियों की इतनी प्रचुरता न थी, जीवन अपने सत्यरूप में इतना स्पष्ट न था। उसका रूपान्तर हुआ और उपन्यास का उदय हुआ जो कथा और नाटक के बीच की वस्तु है। पुराने दृष्टान्त भी रूपान्तरित होकर कहानी बन गये।

मगर सौ बरस पहले यूरप भी इस कला से अनभिज्ञ था। बड़े-बड़े उच्चकोटि के दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक उपन्यास लिखे जाते थे; लेकिन छोटी-छोटी कहानियों की ओर किसी का ध्यान न आता था। हाँ, परियों और भूतों की कहानियाँ लिखी जाती थीं;

किन्तु इसी एक शताब्दी के अन्दर, या उससे भी कम में समझिये, छोटी कहानियों ने साहित्य के और सभी अङ्गों पर विजय प्राप्त कर ली है, और यह कहना ग़लत न होगा कि जैसे किसी ज़माने में काव्य ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का व्यापक रूप था, वैसे ही आज कहानी है। और उसे यह गौरव प्राप्त हुआ है यूरोप के कितने ही महान् कलाकारों की प्रतिभा से, जिनमें बालज़क, मोपाँसाँ, चेख़ाफ़, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की आदि मुख्य हैं। हिन्दी में पच्चीस-तीस साल पहले तक कहानी का जन्म न हुआ था। परन्तु आज तो कोई ऐसी पत्रिका नहीं जिसमें दो-चार कहानियाँ न हों,—यहाँ तक कि कई पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही दी जाती हैं।

कहानियों के इस प्राबल्य का मुख्य कारण आजकल का जीवन-संग्राम और समयाभाव है। अब वह ज़माना नहीं रहा कि हम 'बोस्ताने ख़याल' लेकर बैठ जायँ और सारे दिन उसी की कुंजों में विचरते रहें। अब तो हम जीवन-संग्राम में इतने तन्मय हो गये हैं कि हमें मनोरंजन के लिए समय ही नहीं मिलता; अगर कुछ मनोरंजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य न होता, और हम विक्षिप्त हुए बिना नित्य अठारह घण्टे काम कर सकते, तो शायद हम मनोरंजन का नाम भी न लेते। लेकिन प्रकृति ने हमें विवश कर दिया है; हम चाहते हैं कि थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक मनोरंजन हो जाय,—इसी लिए सिनेमा-गृहों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है। जिस उपन्यास के पढ़ने में महीनों लगते, उसका आनन्द हम दो घण्टों में उठा लेते हैं। कहानी के लिए पन्द्रह-बीस मिनट ही काफ़ी हैं; अतएव, हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये; उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, और उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो, कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्त्व भी हो। तत्त्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश

नहीं चाहते ; लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन के सुन्दर भावों को जाग्रत् करने के लिए, कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं। वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से,—मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से, एक अवश्य उपलब्ध हो।

सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो। साधु पिता का अपने कुव्यसनी पुत्र की दशा से दुःखी होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस आवेग में पिता के मनोवेगों को चित्रित करना और तदनुकूल उसके व्यवहारों को प्रदर्शित करना, कहानी को आकर्षक बना सकता है। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं देवता अवश्य छिपा होता है,—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका-लेखक का काम है। विपत्ति पर विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है,—यहाँ तक कि वह बड़े से बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोंक तैयार हो जाता है, उसकी दुर्वासना भाग जाती है, उसके हृदय के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल आते हैं और हमें चकित कर देते हैं ;—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। एक ही घटना या दुर्घटना भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से प्रभावित करती है.—हम कहानी में इसको सफलता के साथ दिखा सकें, तो कहानी अवश्य आकर्षक होगी। किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित होती रहती हैं और उनसे पैदा होनेवाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता है। सत्यवादी पिता को मालूम होता है कि उसके पुत्र ने हत्या की है। वह उसे न्याय की वेदी पर बलिदान कर दे, या अपने जीवन-सिद्धान्तों की हत्या कर डाले ? कितना भीषण द्वन्द्व है ! पश्चात्ताप ऐसे द्वन्द्वों का अखण्ड स्रोत है। एक भाई ने अपने दूसरे भाई की सम्पत्ति छल-कपट से अपहरण कर ली है, उसे भिक्षा माँगते देखकर क्या छली भाई को ज़रा भी पश्चात्ताप न होगा ? अगर ऐसा न हो, तो वह मनुष्य नहीं है।

उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। चरित्र-प्रधान कहानी का पद ऊँचा समझा जाता है, मगर कहानी में बहुत 'विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो। यह एक साधारण नियम है कि हमें उसी बात में आनन्द आता है जिससे हमारा कुछ सम्बन्ध हो। जुआ खेलनेवालों को जो उन्माद और उल्लास होता है वह दर्शक को कदापि नहीं हो सकता। जब हमारे चरित्र इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अपने को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उस कहानी में आनन्द प्राप्त होता है। अगर लेखक ने अपने पात्रों के प्रति पाठक में यह सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी तो वह अपने उद्देश्य में असफल है।

पाठकों से यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि इन थोड़े ही दिनों में हिन्दी-कहानी-कला ने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है। पहले हमारे सामने केवल बँगला कहानियों का नमूना था। अब हम संसार के सभी प्रमुख कहानी लेखकों की रचनाएँ पढ़ते हैं, उन पर विचार और बहस करते हैं, उनके गुण-दोष निकालते हैं, और उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अब हिन्दी कहानी-लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है,—कहानी जीवन से बहुत निकट आ गई है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदय-स्पर्शी चित्रण है। इस एकतथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है। लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम से कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं

बैठता, केवल उसकी तरफ़ इशारा कर देता है। कभी-कभी तो संभाषणों में एक-दो शब्दों से ही काम निकाल देता है। ऐसे कितने ही अवसर होते हैं जब पात्र के मुँह से एक शब्द सुनकर हम उसके मनोभावों का पूरा अनुमान कर लेते हैं,—पूरे वाक्य की ज़रूरत ही नहीं रहती। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते,—हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। घटनाओं का स्वतन्त्र कोई महत्त्व ही नहीं रहा। उनका महत्त्व केवल पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने की दृष्टि से ही है, —उसी तरह, जैसे शालिग्राम स्वतंत्र रूप से केवल पत्थर का एक गोल टुकड़ा है, लेकिन उपासक की श्रद्धा से प्रतिष्ठित होकर देवता बन जाता है।—खुलासा यह कि कहानी का आधार अब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है, जिसमें सौन्दर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।

कहानी-कला

[३]

कहानी सदैव से जीवन का एक विशेष अङ्ग रही है। हरएक बालक को अपने बचपन की वे कहानियाँ याद होंगी, जो उसने अपनी माता या बहन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने को वह कितना लालायित रहता था, कहानी शुरू होते ही वह किस तरह सब कुछ भूलकर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता। बाल-जीवन की मधुर स्मृतियों में कहानी शायद सबसे मधुर है। वह खिलौने और मिठाइयाँ और तमाशे सब भूल गये ; पर वह कहानियाँ अभी तक याद हैं और उन्हीं कहानियों को आज उसके मुँह से उसके बालक उसी हर्ष और उत्सुकता से सुनते होंगे। मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी लालसा यही है कि वह कहानी बन जाय और उसकी कीर्ति हरएक ज़बान पर हो।

कहानियों का जन्म तो उसी समय से हुआ, जब आदमी ने बोलना सीखा ; लेकिन प्राचीन कथा-साहित्य का हमें जो कुछ ज्ञान है, वह 'कथा सरित-सागर', 'ईसप की कहानियाँ' और 'अलिफ़-लैला' आदि पुस्तकों से हुआ है। ये सब उस समय के साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। उनका मुख्य लक्षण उनका कथा-वैचित्र्य था। मानव-हृदय को वैचित्र्य से सदैव प्रेम रहा है। अनोखी घटनाओं और प्रसंगों को सुनकर हम, अपने बाप-दादा की भाँति ही, आज भी प्रसन्न होते हैं। हमारा ख़याल है कि जन-रुचि जितनी आसानी से अलिफ़ लैला की कथाओं का आनन्द उठाती है, उतनी आसानी से नवीन उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकती। और अगर काउण्ट टाल्सटाय के कथनानुसार जनप्रियता ही कला का आदर्श मान लिया जाय, तो अलिफ़ लैला के सामने स्वयं

टालसटाय के 'वार ऐंड पींस' और ह्यूगो के 'ला मिज़रेबुल' की कोई गिनती नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार हमारी राग रागिनियाँ, हमारी सुन्दर चित्रकारियाँ और कला के अनेक रूप, जिन पर मानव-जाति को गर्व है, कला के क्षेत्र से बाहर हो जायँगे। जन-रुचि परज और बिहाग की अपेक्षा बिरहे और दादरे को ज्यादा पसन्द करती है। बिरहों और ग्रामगीतों में बहुधा बड़े ऊँचे दरजे की कविता होती है, फिर भी यह कहना असत्य नहीं है कि विद्वानों और आचार्यों ने कला के विकास के लिए जो मर्यादायें बना दी हैं, उनसे कला का रूप अधिक सुन्दर और अधिक संयत हो गया है। प्रकृति में जो कला है, वह प्रकृति की है, मनुष्य की नहीं। मनुष्य को तो वही कला मोहित करती है, जिस पर मनुष्य के आत्मा की छाप हो, जो गीली मिट्टी की भाँति मानव-हृदय के साँचे में पड़कर संस्कृत हो गई हो। प्रकृति का सौन्दर्य हमें अपने विस्तार और वैभव से पराभूत कर देता है। उससे हमें आध्यात्मिक उल्लास मिलता है; पर वही दृश्य जब मनुष्य की तूलिका और रंगों और मनोभावों से रंजित होकर हमारे सामने आता है, तो वह जैसे हमारा अपना हो जाता है। उसमें हमें आत्मीयता का सन्देश मिलता है।

लेकिन भोजन जहाँ थोड़े-से मसाले से अधिक रुचिकर हो जाता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि मसाले मात्रा से बढ़ने न पायें। जिस तरह मसालों के बाहुल्य से भोजन का स्वाद और उपयोगिता कम हो जाती है, उसी भाँति साहित्य भी अलंकारों के दुरुपयोग से विकृत हो जाता है। जो कुछ स्वाभाविक है, वही सत्य है और स्वाभाविकता से दूर होकर कला अपना आनन्द खो देती है और उसे समझनेवाले थोड़े-से कलाविद् ही रह जाते हैं; उसमें जनता के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रह जाती।

पुरानी कथा-कहानियाँ अपने घटना-वैचित्र्य के कारण मनोरंजक तो हैं; पर उनमें उस रस की कमी है, जो शिक्षित रुचि साहित्य में खोजती है। अब हमारी साहित्यिक रुचि कुछ परिष्कृत हो गई है।

हम हरएक विषय की भाँति साहित्य में भी बौद्धिकता की तलाश करते हैं। अब हम किसी राजा की अलौकिक वीरता या रानी के हवा में उड़कर राजा के पास पहुँचने, या भूत-प्रेतों के काल्पनिक चरित्रों को देखकर प्रसन्न नहीं होते। हम उन्हें यथार्थ काँटे पर तौलते है और जौ भर भी इधर-उधर नहीं देखना चाहते। आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिए गुंजाइश नहीं है। उनमें हम अपने जीवन का ही प्रतिविम्ब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को, एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल बाह्य रूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं और जो लेखक मानवी हृदय के रहस्यों को खोलने में सफल होता है, उसी की रचना सफल समझी जाती है। हम केवल इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होते कि अमुक व्यक्ति ने अमुक काम किया। हम देखना चाहते हैं कि किन मनोभावों से प्रेरित होकर उसने यह काम किया; अतएव मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का ख़ास अङ्ग है।

प्राचीन कलाओं में लेखक बिलकुल नेपथ्य में छिपा रहता था। हम उसके विषय में उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उसके क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसके मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इसका हमें कुछ पता न चलता था; लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उसके मनोगत विचारों और भावों द्वारा उसका रूप देखते रहते हैं और ये भाव जितने व्यापक और गहरे और अनुभव-पूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिये कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर

करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्ति-मार्ग', 'पञ्च-परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।

यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है; पर साहित्यिक मनोरंजन वह है, जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हममें सत्य, निःस्वार्थ सेवा, न्याय आदि देवत्त्व के जो अंश हैं, वे जागृत हों। वास्तव में मानवीय आत्मा की यह वह चेष्टा है, जो उसके मन में अपने आप को पूर्णरूप में देखने की होती है। अभिव्यक्ति मानव-हृदय का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य जिस समाज में रहता है, उसमें मिलकर रहता है, जिन मनोभावों से वह अपने मेल के क्षेत्र को बढ़ा सकता है, अर्थात्—जीवन के अनन्त प्रवाह में सम्मिलित हो सकता है, वही सत्य है। जो वस्तुएँ भावनाओं के इस प्रवाह में बाधक होती हैं, वे सर्वथा अस्वाभाविक हैं; परन्तु यदि स्वार्थ और अहङ्कार और ईर्ष्या की ये बाधाएँ न होतीं, तो हमारी आत्मा के विकास को शक्ति कहाँ से मिलती? शक्ति तो संघर्ष में है। हमारा मन इन बाधाओं को परास्त करके अपने स्वाभाविक कर्म को प्राप्त करने की सदैव चेष्टा करता रहता है। इसी संघर्ष से साहित्य की उत्पत्ति होती है। यही साहित्य की उपयोगिता भी है। साहित्य में कहानी का स्थान इसी लिए ऊँचा है कि वह एक क्षण में ही, बिना किसी घुमाव-फिराव के, आत्मा के किसी न किसी भाव को प्रकट कर देती है। और चाहे थोड़ी ही मात्रा में क्यों न हो, वह हमारे परिचय का, दूसरों में अपने को देखने का, दूसरों के हर्ष या शोक को अपना बना लेने का क्षेत्र बढ़ा देती है।

हिन्दी में इस नवीन शैली की कहानियों का प्रचार अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है; पर इन थोड़े ही दिनों में इसने साहित्य के अन्य सभी अंगों पर अपना सिक्का जमा लिया है। किसी पत्र को उठा लीजिये, उसमें कहानियों ही की प्रधानता होगी। हाँ, जो पत्र किसी विशेष नीति

या उद्देश्य से निकाले जाते हैं, उनमें कहानियों का स्थान नहीं रहता। जब डाकिया कोई पत्रिका लाता है, तो हम सबसे पहले उसकी कहानियाँ पढ़ना शुरू करते हैं। इनसे हमारी वह क्षुधा तो नहीं मिटती, जो इच्छा-पूर्ण भोजन चाहती है ; पर फलों और मिठाइयों की जो क्षुधा हमें सदैव बनी रहती है, वह अवश्य कहानियों से तृप्त हो जाती है। हमारा ख़याल है कि कहानियों ने, अपने सार्वभौम आकर्षण के कारण संसार के प्राणियों को एक दूसरे से जितना निकट कर दिया है, उनमें जो एकात्मभाव उत्पन्न कर दिया है, उतना और किसी चीज़ ने नहीं किया। हम आस्ट्रेलिया का गेहूँ खाकर, चीन की चाय पीकर, अमेरिका की मोटरों पर बैठकर भी उनको उत्पन्न करनेवाले प्राणियों से बिलकुल अपरिचित रहते हैं, लेकिन मोपासाँ, अनातोले फ्रान्स, चेखोब और टालस्टाय की कहानियाँ पढ़कर हमने फ्रान्स और रूस से आत्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे परिचय का क्षेत्र सागरों और द्वीपों और पहाड़ों को लाँघता हुआ फ्रान्स और रूस तक विस्तृत हो गया है। हम वहाँ भी अपनी ही आत्मा का प्रकाश देखने लगते हैं। वहाँ के किसान और मज़दूर और विद्यार्थी हमें ऐसे लगते हैं, मानो उनसे हमारा घनिष्ट परिचय हो।

हिन्दी में २०-२५ साल पहले कहानियों की कोई चर्चा न थी। कभी-कभी बँगला या अँगरेज़ी कहानियों के अनुवाद छप जाते थे। परन्तु आज कोई ऐसा पत्र नहीं, जिसमें दो-चार कहानियाँ प्रतिमास न छपती हों। कहानियों के अच्छे-अच्छे संग्रह निकलते जा रहे हैं। अभी बहुत दिन नहीं हुए कि कहानियों का पढ़ना समय का दुरुपयोग समझा जाता था। बचपन में हम कभी कोई क़िस्सा पढ़ते पकड़ लिये जाते थे, तो कड़ी डाँट पड़ती थी। यह ख़्याल किया जाता था कि क़िस्सों से चरित्र भ्रष्ट हो जाता है। और उन 'फिसाना अजायब' और 'शुक-बहत्तरी' और 'तोता-मैना' के दिनों में ऐसा ख़याल होना स्वाभाविक ही था। उस वक्त कहानियाँ कहीं स्कूल कैरिकुलम में रख दी जातीं, तो शायद पिताओं का एक डेपुटेशन इसके विरोध में शिक्षा-विभाग के

अध्यक्ष की सेवा में पहुँचता। आज छोटे-बड़े सभी क्लासों में कहानियाँ पढ़ाई जाती हैं और परीक्षाओं में उन पर प्रश्न किये जाते हैं। यह मान लिया गया है कि सांस्कृतिक विकास के लिए सरस साहित्य से उत्तम कोई साधन नहीं है। अब लोग यह भी स्वीकर करने लगे हैं कि कहानी कोरी गप नहीं है, और उसे मिथ्या समझना भूल है। आज से दो हज़ार बरस पहले यूनान के विख्यात फ़िलासफ़र अफ़लातूँ ने कहा था कि हर एक काल्पनिक रचना में मौलिक सत्य मौजूद रहता है। रामायण, महाभारत आज भी उतने ही सत्य हैं, जितने आज से पाँच हज़ार साल पहले थे, हालाँकि इतिहास, विज्ञान और दर्शन में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। कितने ही सिद्धान्त, जो एक ज़माने में सत्य समझे जाते थे, आज असत्य सिद्ध हो गये हैं; पर कथाएँ आज भी उतनी ही सत्य हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध मनोभावों से है और मनोभावों में कभी परिवर्तन नहीं होता। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि 'कहानी में नाम और सन के सिवा और सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवा कुछ भी सत्य नहीं।' गल्पकार अपनी रचनाओं को जिस साँचे में चाहे ढाल सकता है; किसी दशा में भी वह उस महान् सत्य की अवहेलना नहीं कर सकता, जो जीवन-सत्य कहलाता है।

उपन्यास

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह क़ायदा है कि जो चीज़ जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों।

मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।

किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं—पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति, सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व, दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है।

सन्तान-प्रेम मानव-चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो। लेकिन इस सन्तान-प्रेम की मात्राएँ हैं—उसके भेद हैं। कोई तो सन्तान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड़ जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन, धर्म-भीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नहीं करता; उसे शंका होती है कि कहीं इसका परिणाम हमारी सन्तान के लिए बुरा न हो। कोई ऐसा होता है कि औचित्य का लेश-मात्र भी

विचार नहीं करता—जिस तरह भी हो कुछ धन संचय कर जाना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसके लिए उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पड़े—वह सन्तान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सन्तान-प्रेम वह है जहाँ सन्तान का चरित्र प्रधान कारण होता है—जब कि पिता सन्तान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है—उसके लिये कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सन्तान-प्रेम के अगणित भेद आपको मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानव-गुणों की भी मात्राएँ और भेद हैं। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे। सन्तान-प्रेम की एक दशा यह भी है जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देख कर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी सन्तान-प्रेम ही है जब पिता के लिए पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वाद में बाधक नहीं होता। वह सन्तान-प्रेम भी देखने में आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर ये सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए—उसमें अपनी तरफ़ से काट-छाँट, कमी-बेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए?

यहीं से उपन्यासों के दो गरोह हो गये हैं। एक आदर्शवादी, दूसरा यथार्थवादी।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमज़ोरियाँ या ख़ूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का फल बद नहीं होता; बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है—नेक आदमी धक्के खाते

हैं, यातनाएँ सहते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते हैं,—उनको नेकी का फल उलटा मिलता है, बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं—उनको बदी का फल उलटा मिलता है। (प्रकृति का नियम विचित्र है!) यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग़-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिये यथार्थवाद अत्यंत उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे कहीं काला दिखायें जितना वह वास्तव में है। लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव-स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना चाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाय कि मैं चिन्ताओं के बंधन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें क़िस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबक़ा है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तो फिर ऐसी पुस्तक पढ़े ही क्यों?

अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तो

इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें ।--इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है । वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते हैं, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते हैं, जो साधु प्रकृति के होते हैं । यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नहीं होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है ; लेकिन काँइएपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनंद होता है ।

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है । लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्तिमात्र हो--जिनमें जीवन न हो । किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है , लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है ।

इसलिए वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो । उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं । आदर्श को सजीव बनाने ही के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है । उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्‌व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर ले । जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी का है ।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं—चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमज़ोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती । बल्कि यही कमज़ोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं । निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे । ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता । हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्श की छाप

लगी हुई है। वह केवल मनोरंजन के लिए न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसख़रों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिये। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिए ज़रूरत है कि उसके चरित्र positive हों, जो, प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें; बल्कि उनको परास्त करें; जो वासनाओं के पंजे में न फँसे; बल्कि उनका दमन करे; जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकले। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाय। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो; ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा—ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती।

जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है—इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आज-कल परिस्थितियाँ इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नये-नये विचार पैदा हो रहे हैं, कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े—वह उनसे आन्दोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष के ही नहीं, यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा

किसी 'वाद' का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी या नहीं ; अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है, इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नहीं। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिए लिखा जाता है, उसका महत्त्व क्षणिक होता है ? विक्टर ह्यूगो का 'ला मिज़रेबुल', टालस्टाय के अनेक ग्रन्थ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ, विचार-प्रधान होते हुए उच्च कोटि की साहित्यिक हैं और अब तक उनका आकर्षण कम नहीं हुआ। आज भी शॉ, वेल्स आदि बड़े-बड़े लेखकों के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं।

हमारा ख़याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे ? 'कला के लिए कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये ; अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंग्लैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुका है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर हास्य-रस-प्रधान रचना है। 'पिकविक' का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की ज़बान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष—सबकी रचना हो गई। 'साइलस मार्नर' भी अँगरेज़ी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तसवीर उनके हृदय-पट पर अङ्कित हो गई

थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर' भी हॅथर्न की बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गये, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था। एक ज़रा-सा इशारा, एक ज़रा-सा बीज, लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। 'एम० ऐंड्रूज हिम' रडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इञ्जीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घण्टों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुना करते थे। 'जेन आयर' भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिये या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, 'मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी।' इसका फल था 'जेन आयर।'

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हाल केन का नाम पाठकों ने सुना है। आपकी एक उत्तम रचना का हिन्दी अनुवाद हाल ही में 'अमरपुरी' के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। 'मेटरलिंक' बेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका 'मोमाबोन' नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन ड्रामा से! शेक्सपियर के नाटकों का मूल स्थान खोज-खोजकर कितने ही विद्वानों ने

'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग 'डाक्टर' बन सकते हैं। 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक वृहत् पोथा है जिसके रचयिता अकबर के दरबारवाले फैज़ी कहे जाते हैं, हालाँकि हमें यह मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। कम से कम २०,००० पृष्ठों की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकीनंदन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता-संतति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जिन पर हज़ारों बरसों से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आये हैं और शायद हज़ारों वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर न जाने कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई हैं। यूरोप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए अशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता पहले मिश्र देश के तीन हज़ार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रान्स से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है।

किन्तु, यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नये कथानक में वह रस, वह आकर्षण, नहीं होता जो पुराने कथानकों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की ज़रूरत नहीं।

रचना-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो उसमें अभ्यस्त हो चुके हैं उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती—क़लम उठाया और लिखने लगे; लेकिन नये लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक

तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर, उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से,—किसी की नये, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जाग्रत् होती हैं।

ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं? कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुजर जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का नया ढंग निकाला है। दल के दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक काग़ज़ के टुकड़े पर किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का नाम लिख देता है और उम्मेद-वार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के सम्बंध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का रंग क्या है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? आदि। यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिये, तो उन्हें अयोग्य समझकर बिदा कर देता है। जिसकी निरीक्षण-शक्ति इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है; पर भ्रामकता की मात्रा भी कम नहीं है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रखी; पर इसकी ज़रूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज़, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। यूरोप में लेखकों के पास उस बक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है

जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हर एक प्रकार की चीज़ों को वे अलग-अलग खानों में संगृहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है इसमें सन्देह नहीं ; लेकिन आरम्भकाल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पड़ेगा। देखिये, एक उपन्यासकार की नोटबुक का नमूना—

'अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सुफेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछें ऐंठी हुईं।

'सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिविम्ब काला, हरा, चमकीला ; लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटे से झाग उड़ती हुई।'

उन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं ? तो आपने कहा, 'चारों तरफ।—अगर लेखक अपनी आँखें खुली रखे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्य के वार्तालाप में और हजारों जगहों से सुन्दर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बातों में यह चर्चा छिड़ गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो ? इस अंकुर से मैंने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकालीं।'

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिये। वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास-कला' नामक पुस्तक में लिखते हैं—

'उपन्यासकार को अपनी सामग्री, आले पर रखी हुई पुस्तकों से

नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाक़ी रहा? यह सत्य है; लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नये चरित्र न मिलें; पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।'

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किये हैं, वह भी देखिये—

'अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिये। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अँग्रेज़ उपन्यासकार को जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानी में फ्रान्स के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा—आपको इन समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला? (फ्रान्स रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई पड़ते।) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक बार का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी जो एक इञ्च से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है।'

मिस्टर जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण

हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते हैं—

'कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बाँटना चाहिये। पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में रहस्य खुल जाय। लेकिन हरएक भाग में कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिये जिसमें पाठक की इच्छा सब-कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मज़ा है जब कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिस पर कोई भूलकर भी सन्देह न कर सकता था।'

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक कल्पनाशील होता है। इसलिए वह ऐसी बातें पढ़ना पसन्द नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब-कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाक़ी न छोड़े। वह कहानी का ख़ाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभि-रुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिये। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी में मज़ा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की ज़रूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहियें। किसी दृश्य को तुरत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातों के आ जाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप ही आप मस्तिष्क

से निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अङ्कित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिए हम उन्हें 'राम' और 'श्याम' कहेंगे।

राम—गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है?

श्याम—हलो राम, तुम आज किधर भूल पड़े?

राम—कहो क्या रङ्ग-ढंग है? तुम तो भले ईद के चाँद हो गये।

श्याम—मैं तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गये।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ?

श्याम—हाँ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नहीं लिख रहा है जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बताना ही उसका ध्येय है तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।'

उपन्यास का विषय

उपन्यास का क्षेत्र, अपने विषय के लिहाज़ से, दूसरी ललित कलाओं से कही ज्यादा विस्तृत है। 'वाल्टर बेसेंट' ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किये हैं—

'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी क़दर कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं।'

इसी विषय-विस्तार ने उपन्यास को संसार-साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्त्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्सास में महान् दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व-शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुञ्जाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्त्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी क़लम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता ; लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बन्धन ही नहीं है। उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलनेवालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लम्बे-चौड़े मार्गहीन मैदान में चलनेवालों के लिए।

उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता।

उसमें और चाहे जितने अभाव हों ; पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। अगर इस शक्ति की कमी है, तो चाहे उसने कितना ही देशाटन क्यों न किया हो, वह कितना ही विद्वान क्यों न हो, उसके अनुभव का क्षेत्र कितना ही विस्तृत क्यों न हो, उसकी रचना में सरसता नहीं आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक हैं जिनमें मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक सूक्ष्म और प्रभाव डालनेवाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है ; लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रों में जीवन का संचार नहीं कर सकते, जीती-जागती तसवीरें नहीं खींच सकते। उनकी रचनाओं को पढ़कर हमें यह ख्याल नहीं होता कि हम कोई सच्ची घटना देख रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिये ; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधन्धा रचकर पाठक को इस भ्रम में डाल दें कि इसमें ज़रूर कोई न कोई गूढ़ आशय है। जिस तरह किसी आदमी का ठाट-बाट देखकर हम उसकी वास्तविक स्थिति के विषय में ग़लत राय क़ायम कर लिया करते हैं, उसी तरह उपन्यासों के शाब्दिक आडम्बर देखकर भी हम ख्याल करने लगते हैं कि कोई महत्त्व की बात छिपी हुई है। सम्भव है, ऐसे लेखक को थोड़ी देर के लिए यश मिल जाय ; किन्तु जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं, उनकी सरलता होती है।

उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाये ; लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो ; इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुल-मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी हो जायगी जिसके हरएक हिस्से

अलग-अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है तो वह पाठक के उस आनन्द में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास में वही घटनाएँ, वही विचार, लाना चाहिये जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लाट के विकास में सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करते हों। पुरानी कथाओं में लेखक का उद्देश्य घटना-वैचित्र्य दिखाना होता था; इसलिए वह एक कथा में कई उपकथाएँ मिलाकर अपना उद्देश्य पूरा करता था। साम्प्रतकालीन उपन्यासों में लेखक का उद्देश्य मनोभावों और चरित्र के रहस्यों का खोलना होता है; अतएव यह आवश्यक है कि वह अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे, उसके चरित्रों का कोई भाग उसकी निगाह से न बचने पाये। ऐसे उपन्यास में उपकथाओं की गुञ्जाइश नहीं होती।

यह सच है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हरएक पहलू, जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है; लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्त्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह ज़रूरी नहीं कि हमारे चरित्रनायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिये जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रों में हो। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है—उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।

मनुष्य की सहानुभूति साधारण स्थिति में तब तक जागरित नहीं होती जब तक कि उसके लिए उस पर विशेष रूप से आघात न किया जाय। हमारे हृदय के अंतरतम भाव साधारण दशाओं में आन्दोलित

नहीं होते। इसके लिए ऐसी घटनाओं की कल्पना करनी होती है जो हमारा दिल हिला दे, जो हमारे भावों की गहराई तक पहुँच जायँ। अगर किसी अबला को पराधीन दशा का अनुभव कराना हो तो इस घटना से ज्यादा प्रभाव डालनेवाली और कौन घटना हो सकती है कि शकुन्तला राजा दुष्यंत के दरबार में आकर खड़ी होती है और राजा उसे न पहचानकर उसकी उपेक्षा करता है? खेद है कि आजकल के उपन्यासों में गहरे भावों को स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आये-दिन की साधारण बातों ही में उलझकर रह जाते हैं।

इस विषय में अभी तक मतभेद है कि उपन्यास में मानवीय दुर्बलताओं और कुवासनाओं का, कमजोरियों और अपकीर्त्तियों का, विशद वर्णन वांछनीय है या नहीं; मगर इसमें कोई संदेह नहीं कि जो लेखक अपने को इन्हीं विषयों में बाँध लेता है वह कभी उस कलाविद् की महानता को नहीं पा सकता जो जीवन-संग्राम में एक मनुष्य की आंतरिक दशा को, सत् और असत् के संघर्ष और अंत में सत्य की विजय को, मार्मिक ढंग से दर्शाता है। यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें। अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? बेशक, चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्तर लगाना, भी कभी-कभी आवश्यक होता है; लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है। किसी को नीच समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते; बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जायगा कि 'तुम कायर हो।' हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का सम्बन्ध सत्य और सुंदर से है, यह हमें न भूलना चाहिये।

मगर आजकल कुकर्म, हत्या, चोरी, डाके से भरे हुए उपन्यासों की जैसे बाढ़-सी आ गई है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कोई समय न

था जब ऐसे कुरुचिपूर्ण उपन्यासों की इतनी भरमार रही हो। जासूसी के उपन्यासों में क्यों इतना आनंद आता है? क्या इसका कारण यह है कि पहले से अब लोग ज्यादा पापासक्त हो गये हैं? जिस समय लोगों को यह दावा है कि मानव-समाज नैतिक और बौद्धिक उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ है, यह कौन स्वीकार करेगा कि हमारी समाज पतन की ओर जा रहा है? शायद, इसका यह कारण हो कि इस व्यावसायिक शांति के युग में ऐसी घटनाओं का अभाव हो गया है जो मनुष्य के कुतूहल-प्रेम को संतुष्ट कर सकें—जो उसमें सनसनी पैदा कर दें। या इसका यह कारण हो सकता है कि मनुष्य की धन-लिप्सा उपन्यास के चरित्रों को धन के लोभ से कुकर्म करते देखकर प्रसन्न होती है। ऐसे उपन्यासों में यही तो होता है कि कोई आदमी लोभ-वश किसी धनाढ्य पुरुष की हत्या कर डालता है, या उसे किसी संकट में फँसाकर उससे मनमानी रकम ऐंठ लेता है। फिर जासूस आते हैं, वकील आते हैं और मुजरिम गिरफ्तार होता है, उसे सज़ा मिलती है। ऐसी रुचि को प्रेम, अनुराग या उत्सर्ग की कथाओं में आनंद नहीं आ सकता। भारत में वह व्यावसायिक वृद्धि तो नहीं हुई; लेकिन ऐसे उपन्यासों की भरमार शुरू हो गई। अगर मेरा अनुमान ग़लत नहीं है तो ऐसे उपन्यासों की खपत इस देश में भी अधिक होती है। इस कुरुचि का परिणाम रूसी उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की के शब्दों में ऐसे वातावरण का पैदा होना है जो कुकर्म की प्रवृत्ति को दृढ़ करता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य में पशु-वृत्तियाँ इतनी प्रबल होती जा रही हैं कि अब उसके हृदय में कोमल भावों के लिए स्थान ही नहीं रहा।

उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़नेवालों पर उसका असर पड़ेगा; और यह लेखक की रचना-शक्ति पर निर्भर है। जिस तरह किसी मनुष्य को देखते ही हम उसके मनोभावों से परिचित नहीं हो जाते, ज्यों-ज्यों हमारी घनिष्ठता उससे बढ़ती है, त्यों-त्यों उसके मनोरहस्य खुलते हैं, उसी तरह उपन्यास के चरित्र भी लेखक की कल्पना में पूर्ण रूप से नहीं आ जाते;

बल्कि उनमें क्रमशः विकास होता जाता है। यह विकास इतने गुप्त—अस्पष्ट रूप से होता है कि पढ़नेवाले को किसी तबदीली का ज्ञान भी नहीं होता। अगर चरित्रों में किसी का विकास रुक जाय तो उसे उपन्यास से निकाल देना चाहिये, क्योंकि उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमज़ोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत में भी वैसा ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।

इस दृष्टि से जब हम हिन्दी के वर्तमान उपन्यासों को देखते हैं तो निराशा होती है। अधिकांश चरित्र ऐसे ही मिलेंगे जो काम तो बहुतेरे करते हैं; लेकिन जैसे जो काम वे आदि में करते, उसी तरह वही अंत में भी करते हैं।

कोई उपन्यास शुरू करने के लिए यदि हम उन चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें तो फिर उनका विकास दिखाने में हमें सरलता होगी। यह कहने की भी ज़रूरत नहीं है, विकास परिस्थिति के अनुसार स्वाभाविक हो, अर्थात्—पाठक और लेखक दोनों इस विषय में सहमत हों। अगर पाठक का यह भाव हो कि इस दशा में ऐसा नहीं होना चाहिये था तो इसका यह आशय हो सकता है कि लेखक अपने चरित्र के अङ्कित करने में असफल रहा। चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता भी रहनी चाहिये। जिस तरह संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं होते, उसी भाँति उपन्यास में भी न होना चाहिये। कुछ लोग तो बातचीत या शक्ल-सूरत से विशेषता उत्पन्न कर देते हैं; लेकिन असली अंतर तो वह है, जो चरित्रों में हो।

उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की क़लम से जितना ही कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुंदर होगा। वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिये। बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियोंके

अनुकूल, सरल और सूक्ष्म होना ज़रूरी है। हमारे उपन्यासों में अक्सर बातचीत भी उसी शैली में कराई जाती है मानो लेखक खुद लिख रहा हो। शिक्षित-समाज की भाषा तो सर्वत्र एक है, हाँ भिन्न-भिन्न जातियों की ज़बान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बंगाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो इण्डियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिन्दी बोलते पाये जाते हैं; लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं; पर ग्रामीण बातचीत कभी-कभी हमें दुविधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आसपास का आदमी समझ ही न सकेगा।

वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देश की लगन है उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियाँ सभी उसी रंग में रँगी हुई नज़र आयेंगी। लहरी आनंदी लेखकों के चरित्रों में भी अधिकांश चरित्र ऐसे ही होंगे जिन्हें जगत्-गति नहीं व्यापती। वे जासूसी, तिलिस्मी चीज़ें लिखा करते हैं। अगर लेखक आशावादी है तो उसकी रचना में आशावादिता छलकती रहेगी, अगर वह शोकवादी है तो, बहुत प्रयत्न करने पर भी, वह अपने चरित्रों को ज़िन्दादिल न बना सकेगा। 'आज़ाद-कथा' को उठा लीजिये, तुरंत मालूम हो जायगा कि लेखक हँसने-हँसानेवाला जीव है जो जीवन को गम्भीर विचार के योग्य नहीं समझता। जहाँ उसने समाज के प्रश्नों को उठाया है वहाँ शैली शिथिल हो गई है।

जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है। जिसके भाव गहरे हैं, प्रखर हैं,—जो जीवन में बद्दू बनकर नहीं, बल्कि सवार बनकर चलता है, जो उद्योग करता है और विफल होता है, उठने की कोशिश करता है और गिरता है, जो वास्तविक जीवन की गहराइयों में डूबा है, जिसने ज़िन्दगी के ऊँच-नीच देखे हैं, सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है, जिसकी ज़िन्दगी मखमली गद्दों पर

ही नहीं गुज़रती, वही लेखक ऐसे उपन्यास रच सकता है जिनमें प्रकाश, जीवन और आनंद-प्रदान की सामर्थ्य होगी।

उपन्यास के पाठकों की रुचि भी अब बदलती जा रही है। अब उन्हें केवल लेखक की कल्पनाओं से संतोष नहीं होता। कल्पना कुछ भी हो, कल्पना ही है। वह यथार्थ का स्थान नहीं ले सकती। भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है जो अनुभूति पर खड़े हों।

इसका आशय यह है कि भविष्य में उपन्यास में कल्पना कम, सत्य अधिक होगा; हमारे चरित्र कल्पित न होंगे, बल्कि व्यक्तियों के जीवन पर आधारित होंगे। किसी हद तक तो अब भी ऐसा होता है; पर बहुधा हम परिस्थितियों का ऐसा क्रम बाँधते हैं कि अंत स्वाभाविक होने पर भी वह होता है जो हम चाहते हैं। हम स्वाभाविकता का स्वाँग जितनी खूबसूरती से भर सके, उतने ही सफल होते हैं; लेकिन भविष्य में पाठक इस स्वाँग से संतुष्ट न होगा।

यों कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फ़ैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पाई है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो। अभी हम झूठ को सच बनाकर दिखाना चाहते हैं, भविष्य में सच को झूठ बनाकर दिखाना होगा। किसी किसान का चरित्र हो, या किसी देश-भक्त का, या किसी बड़े आदमी का; पर उसका आधार यथार्थ पर होगा। तब यह काम उससे कठिन होगा जितना अब है; क्योंकि ऐसे बहुत कम लोग हैं, जिन्हें बहुत-से मनुष्यों को भीतर से जानने का गौरव प्राप्त हो।

एक भाषण

सज्जनो, आर्यसमाज ने इस सम्मेलन का नाम आर्यभाषा-सम्मेलन शायद इसलिए रखा है कि यह समाज के अन्तर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है जिनमें आर्यसमाज ने धर्म का प्रचार किया है। और उनमें उर्दू और हिन्दी दोनों का दर्जा बराबर है। मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतना ही तहज़ीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करें तो मैं कहूँगा कि उसके तहज़ीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से ज़्यादा प्रसिद्ध और रौशन हैं। आर्यसमाज ने साबित कर दिया है कि समाज की सेवा ही किसी धर्म के सजीव होने का लक्षण है। सेवा का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है जिसमें उसकी कीर्ति की ध्वजा न उड़ रही हो। क़ौमी ज़िन्दगी की समस्याओं को हल करने में उसने जिस दूरंदेशी का सबूत दिया है उस पर हम गर्व कर सकते हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्य-समाज ने क़दम उठाया, लड़कियों की शिक्षा की ज़रूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सिर है। जाति-भेद-भाव और खान-पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्मसमाज ने इस दिशा में पहले क़दम रखा पर वह थोड़े से अँग्रेज़ी पढ़े-लिखों तक ही रह गया। इन विचारों को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ने ही उठाया। अन्ध-विश्वास और धर्म के नाम पर किये जानेवाले हज़ारों अनाचारों की क़ब्र उसने खोदी, हालाँकि मुर्दे को उसमें दफ़न न कर सका और अभी तक उसका ज़हरीला दुर्गन्ध उड़-उड़कर समाज को दूषित कर रहा है। समाज के मानसिक और बौद्धिक धरातल (सतह) को आर्यसमाज ने जितना उठाया है, शायद ही भारत की किसी संस्था ने उठाया हो। उसके

उपदेशकों ने वेदों और वेदांगों के गहन विषयों को जन-साधारण की सम्पत्ति बना दिया जिन पर विद्वानों और आचार्य के कई-कई लीवर-वाले ताले लगे हुए थे। आज आर्यसमाज के उत्सवों और गुरुकुलों के जलसों से हज़ारों मामूली लियाक़त के स्त्री-पुरुष सिर्फ़ विद्वानों के भाषण सुनने का आनन्द उठाने के लिए खिंचे चले जाते हैं। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को सम्पूर्ण बनाने का महान् उद्योग किया है। सम्पूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का है जो सर्वाङ्ग-पूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह, सभी के विकास का अवसर मिले। शिक्षा का वर्तमान आदर्श यही है। मेरे ख़याल में वह चिरसत्य है। वह शिक्षा जो सिर्फ़ अक़्ल तक ही रह जाय अधूरी है। जिन संस्थाओं में युवकों में समाज से पृथक् रहनेवाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और ग़रीब के भेद को न सिर्फ़ क़ायम रखें बल्कि और मज़बूत करे, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुशकिलों का सामना करने की शक्ति न रह जाय, जहाँ कला और संयम में कोई मेल न हो, जहाँ की कला केवल नाचने-गाने और नक़ल करने में ही ज़ाहिर हो, उस शिक्षा का मैं क़ायल नहीं हूँ। शायद ही मुल्क में कोई ऐसी शिक्षा-संस्था हो जिसने क़ौम की पुकार का इतनी जवाँमर्दी से स्वागत किया हो। अगर विद्या हममें सेवा और त्याग का भाव न लाये, अगर विद्या हमें आदर्श के लिए सीना खोलकर खड़ा होना न सिखाये, अगर विद्या हममें स्वाभिमान न पैदा करे, और हमें समाज के जीवन-प्रवाह से अलग रखे तो उस विद्या से हमारी अविद्या अच्छी। और समाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि स्वामी दयानन्द ने इसी भाषा में सत्यार्थ-प्रकाश लिखा और उस वक़्त लिखा जब उसकी इतनी चर्चा न थी। उनकी बारीक नज़र ने देख लिया कि अगर जनता में प्रकाश ले जाना है तो उसके लिए हिन्दी भाषा ही अकेला साधन है, और गुरुकुलों ने हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर अपने भाषा-प्रेम को और भी सिद्ध कर दिया है।

सज्जनो, मैं यहाँ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नहीं कहना चाहता, वह सारी कथा भाषा विज्ञान की पोथियों में लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफ़ी है कि आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड़ के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं। पर है वह एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फ़र्क़ है, हाँ, लिखने में वह फ़र्क़ बढ़ जाता है, मगर उस तरह का फ़र्क़ सिर्फ़ हिन्दी में ही नहीं, गुजराती, बँगला और मराठी वग़ैरह भाषाओं में भी कमोवेश वैसा ही फ़र्क़ पाया जाता है। भाषा के विकास में हमारी संस्कृति की छाप होती है, और जहाँ संस्कृति में भेद होगा वहाँ भाषा में भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे हैं वह देहली प्रांत की भाषा है, उसी तरह जैसे ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, भोजपुरी और मारवाड़ी आदि भाषाएँ अलग-अलग क्षेत्रों में बोली जाती हैं और सभी साहित्यिक भाषा रह चुकी हैं। बोली की परिमार्जित रूप ही भाषा है। सबसे ज्यादा प्रसार तो ब्रजभाषा का है क्योंकि वह आगरा प्रांत के बड़े हिस्से में ही नहीं, सारे बुन्देलखण्ड की बोलचाल की भाषा है। अवधी अवध प्रांत की भाषा है। भोजपुरी प्रांत के पूर्वी जिलों में बोली जाती है, और मैथिली बिहार प्रांत के कई जिलों में। ब्रजभाषा में जो साहित्य रचा गया है वह हिन्दी के पद्य-साहित्य का गौरव है। अवधी के प्रमुख ग्रंथ तुलसीकृत रामायण और मलिक मुहम्मद जायसी का रचा हुआ पद्मावत हैं। मैथिली में विद्यापति की रचनाएँ ही मशहूर हैं। मगर साहित्य में आम तौर पर मैथिल का व्यवहार कम हुआ। साहित्य में तो अवधी और ब्रजभाषा का व्यवहार होता था। हिन्दी के विकास के पहले ब्रजभाषा ही हमारी साहित्यिक भाषा थी और प्रायः उन सभी प्रदेशों में जहाँ आज हिन्दी का प्रचार है, पहले ब्रजभाषा का प्रचार था। अवध में और काशी में भी कवि लोग अपने कवित्त ब्रजभाषा में ही कहते थे। यहाँ तक कि गया में भी ब्रजभाषा का ही प्रचार होता था।

तो यकायक ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि को पीछे हटाकर हिन्दी कैसे सबके ऊपर ग़ालिब आई, यहाँ तक कि अब अवधी और भोजपुरी का तो साहित्य में कहीं व्यवहार नहीं है, हाँ ब्रजभाषा को अभी तक थोड़े-से लोग सीने से चिपटाये हुए हैं। हिन्दी को यह गौरव प्रदान करने का श्रेय मुसलमानों को है। मुसलमानों ही ने दिल्ली प्रांत की इस बोली को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रांतों में गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुज़रा। दिल्ली में बहुत दिनों तक अराजकता का जोर रहा, और भाषा को विकास का अवसर न मिला। और दक्खिन में वह पलती रही। गोलकुंडा, बीजापूर, गुलबर्गा आदि के दरबारों में इसी भाषा में शेर-शायरी होती रही। मुसलमान बादशाह प्रायः साहित्यप्रेमी होते थे। बाबर, हुमायूँ, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगज़ेब, दाराशिकोह सभी साहित्य के मर्मज्ञ थे। सभी ने अपने-अपने रोज़नामचे लिखे हैं। अकबर ख़ुद शिक्षित न हो मगर साहित्य का रसिक था। दक्खिन के बादशाहों में अफ्सरों ने कविताएँ कीं और कवियों को आश्रय दिया। पहले तो उनकी भाषा कुछ अजीब, खिचड़ी-सी थी जिसमें हिन्दी, फ़ारसी सब कुछ मिला होता था। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना ख़ुसरो ने की है जो मुग़लों से भी पहले ख़िलजी राजकाल में हुए। ख़ुसरो की कविता का एक नमूना देखिये—

जब यार देखा नैन भर, दिल की गई चिन्ता उतर,
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।

जब आँख से ओझल भया, तड़पन लगा मेरा जिया,
हक्का इलाही क्या किया, आँसू चले भरलाय कर॥

तूँ तो हमारा यार है, तुम पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है, यक शब मिलो तुम आय कर।

मेरा जो मन तुमने लिया, तुमने उठा ग़म को दिया,
ग़म ने मुझे ऐसा किया, जैसे पतंगा आग पर ।।

.खुसरो की एक दूसरी ग़ज़ल देखिये—

बह गये बालम, वह गये नदियों किनार,
आप पार उतर गये हम तो रहे अरदार ।
भाई रे मल्लाहो हम को उतारो पार,
हाथ का देऊँगी मुँदरी, गल का देऊँ हार ।

मुसलमानी ज़माने में अवश्य ही हिन्दी के तीन रूप होंगे । एक नागरी लिपि में ठेठ हिन्दी, जिसे भाषा या नागरी कहते थे, दूसरी उर्दू यानी फारसी लिपि में लिखी हुई फ़ारसी से मिली हुई हिन्दी और तीसरी ब्रजभाषा । लेकिन हिन्दी-भाषा को मौजूदा सूरत में आते-आते सदियाँ गुज़र गईं । यहाँ तक सन् १८०३ ई० से पहले का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता । सदल मिश्र की 'चन्द्रावती' का रचना-काल १८०३ माना जाता है, और सदल मिश्र ही हिन्दी के आदि लेखक ठहरते हैं । इसके बाद लल्लूजी, सैयद इंशा अल्लाह खाँ वग़ैरह के नाम हैं । इस लिहाज़ से हिन्दी-गद्य का जीवन सवा सौ साल से ज्यादा का नहीं है, और क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि सवा सौ साल जिस ज़बान में कोई गद्य-रचना तक न थी आज सारे हिन्दुस्तान की क़ौमी ज़बान बनी हुई है ? और इसमें मुसलमानों का कितना सहयोग है यह हम बता चुके हैं । हमें सन्देह है कि मुसलमानों का सहारा पाये बग़ैर हमको आज यह दरजा हासिल होता ।

जिस तरह हिन्दुओं की हिन्दी का रूप विकसित हो रहा था, उसी तरह मुसलमानों की हिन्दी का रूप भी बदलता जा रहा था । लिपि तो शुरू से ही अलग थी, ज़बान का रूप भी बदलने लगा । मुसलमानों की संस्कृति ईरान और अरब की है । उसका ज़बान पर असर पड़ने लगा । अरबी और फ़ारसी के शब्द उसमें आ-आकर मिलने लगे, यहाँ तक कि आज हिन्दी और उर्दू दो अलग-अलग ज़बानें-सी हो गई हैं । एक तरफ़ हमारे मौलवी साहबान अरबी और फ़ारसी के शब्द भरते

जाते हैं, दूसरी ओर पण्डितगण, संस्कृत और प्राकृत के शब्द ठूँस रहे हैं और दोनों भाषाएँ जनता से दूर होती जा रही हैं। हिन्दुओं की खासी तादाद अभी तक उर्दू पढ़ती जा रही है लेकिन उनकी तादाद दिन-दिन घट रही है। मुसलमानों ने हिन्दी से कोई सरोकार रखना छोड़ दिया। तो क्या यह तै समझ लिया जाय कि उत्तर भारत में उर्दू और हिन्दी दो भाषाएँ अलग-अलग रहेंगी, उन्हें अपने-अपने ढंग पर, अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार बढ़ने दिया जाय, उनको मिलाने की और इस तरह उन दोनों की प्रगति को रोकने की कोशिश न की जाय? या ऐसा सम्भव है कि दोनों भाषाओं को इतना समीप लाया जाय कि उनमें लिपि के सिवा कोई भेद न रहे। बहुमत पहले निश्चय की ओर है। हाँ कुछ थोड़े-से लोग ऐसे भी हैं जिनका खयाल है कि दोनों भाषाओं में एकता लाई जा सकती है, और इस बढ़ते हुए फ़र्क़ को रोका जा सकता है, लेकिन उनकी आवाज़ नक्कारखाने में तूती की आवाज़ है। ये लोग हिन्दी और उर्दू नामों का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि दो नामों का व्यवहार उनके भेद को और मज़बूत करता है। यह लोग दोनों को एक नाम से पुकारते हैं और वह 'हिन्दुस्तानी' है। उनका आदर्श है कि जहाँ तक मुमकिन हो लिखी जानेवाली ज़बान और बोलचाल की ज़बान की सूरत एक हो, और वह थोड़े से पढ़े-लिखे आदमियों की ज़बान न रहकर सारी क़ौम की ज़बान हो। जो कुछ लिखा जाय उसका फ़ायदा जनता भी उठा सके, और हमारे यहाँ पढ़े-लिखों की जो एक जमाअत अलग बनती जा रही है, और जनता से उनका सम्बन्ध जो दूर होता जा रहा है वह दूरी मिट जाय और पढ़े-बे-पढ़े सब अपने को एक जान, एक दिल समझें, और क़ौम में ताक़त आवे। चूँकि उर्दू ज़बान अरसे से अदालती और सभ्य-समाज की भाषा रही है, इसलिए उसमें हज़ारों फ़ारसी और अरबी के शब्द इस तरह घुल-मिल गये हैं कि बज्र देहाती भी उनका मतलब समझ जाता है। ऐसे शब्दों को अलग करके हिन्दी में विशुद्धता लाने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, हम उसे ज़बान और

क़ौम दोनों ही के साथ अन्याय समझते हैं। इसी तरह हिन्दी या संस्कृत या अँगरेज़ी के जो बिगड़े हुए शब्द उर्दू में मिल गये उनको चुन-चुनकर निकालने और उनकी जगह ख़ालिस फ़ारसी और अरबी के शब्दों के इस्तेमाल को भी उतना ही एतराज़ के लायक समझते हैं। दोनों तरफ से इस अलगौझे का सबब शायद यही है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज जनता से अलग-अलग होता जा रहा है, और उसे इसकी ख़बर ही नहीं कि जनता किस तरह अपने भावों और विचारों को अदा करती है। ऐसी ज़बान जिसके लिखने और समझनेवाले थोड़े-से पढ़े-लिखे लोग ही हों, मसनई, बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की, उन तक अपना पैग़ाम पहुँचाने की, उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमरमर के बने हों जिसमें कमल खिले हों, लेकिन उसका पानी वन्द हो। क्या उस पानी में वह मज़ा, वह सेहत देनेवाली ताक़त, वह सफ़ाई है जो खुली हुई धारा में होती है ? क़ौम की ज़बान वह है जिसे क़ौम समझे, जिसमें क़ौम की आत्मा हो, जिसमें क़ौम के जज़बात हों। अगर पढ़े-लिखे समाज की ज़बान ही क़ौम की ज़बान है तो क्यों न हम अंग्रेज़ी को क़ौम की ज़बान कहें ? क्योंकि मेरा तजरबा है कि आज पढ़ा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफ़ी से अंग्रेज़ी बोल सकता है, और जिस रवानी के साथ अंग्रेज़ी लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नहीं सकता। बड़े-बड़े दफ्तरों में और ऊँचे दायरे में आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महीनों, बरसों ज़रूरत नहीं होती। ख़ानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अंग्रेज़ी बोलते और समझते हैं। जो लोग इस तरह की ज़िन्दगी बसर करने के शौक़ीन हैं उनके लिए तो उर्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनी बलंदी पर पहुँच गये हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक़ हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हज़ार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है। Intelligentsia में जो

कुछ शक्ति और प्रभाव है वह जनता ही से आता है। उससे अलग रहकर वे हाकिम की सूरत में ही रह सकते हैं, ख़ादिम की सूरत में, जनता के होकर नहीं रह सकते। उनके अरमान और मंसूबे उनके हैं, जनता के नहीं। उनकी आवाज़ उनकी है, उसमें जनसमूह की आवाज़ की गहराई और गरिमा और गम्भीरता नहीं है। वह अपने प्रतिनिधि हैं, जनता के प्रतिनिधि नहीं।

बेशक, यह बड़ा ज़ोरदार जवाब है कि जनता में शिक्षा इतनी कम है, समझने की ताक़त इतनी कम कि अगर हम उसे ज़ेहन में रखकर कुछ बोलना या लिखना चाहें, तो हमें लिखना और बोलना बन्द करना पड़ेगा। यह जनता का काम है कि वह साहित्य पढ़ने और गहन विषयों के समझने की ताक़त अपने में लाये। लेखक का काम तो अच्छी-से-अच्छी भाषा में ऊँचे-से-ऊँचे विचारों का प्रकट करना है। अगर जनता का शब्दकोष सौ-दो-सौ निहायत मामूली रोज़मर्रा के काम के शब्दों के सिवा और कुछ नहीं है, तो लेखक कितनी ही सरल भाषा लिखे जनता के लिए वह कठिन ही होगी। इस विषय में हम इतनी अर्ज़ करेंगे कि जनता को इस मानसिक दशा में छोड़ने की ज़िम्मेदारी भी हमारे ही ऊपर है। हममें जिनके पास इल्म है, और फ़ुरसत है, यह उनका फ़र्ज़ था कि अपनी तक़रीरों से जनता में जागृति पैदा करते, जनता में ज्ञान के प्रचार के लिए पुस्तकें लिखते और सफ़री कुतुबख़ाने क़ायम करते। हममें जिन्हें मक़दरत है वह मदरसे खोलने के लिए लाखों रुपए ख़ैरात करते हैं। मैं यह नहीं चाहता कि क़ौम को ऐसे मुहसिनों को धन्यवाद न देना चाहिये, मगर क्या ऐसी संस्थाएँ न खुल सकती थीं और क्या उनसे क़ौम का कुछ कम उपकार होता जो भाषणों और पुस्तकों से जनता में साहित्य और विज्ञान का प्रचार करतीं और उनको सभ्यता की ऊँची सतह पर लातीं? आर्यसमाज ने जिस तरह के विषयों का जनता में प्रचार किया है उन विषयों को साधारण पढ़ा-लिखा आर्यसमाजी भी ख़ूब समझता है। अदालती मामलों को, या मुक्ति और आवागमन जैसे गम्भीर विषयों को गाँव

के किसान भी अगर ज़्यादा नहीं समझते, तो साधारण पढ़े-लिखों के बराबर तो समझ ही लेते हैं। इसी तरह अन्य विषयों की चर्चा भी जनता के सामने होती रहती तो हमें यह शिकायत न होती कि जनता हमारे विचारों को समझ नहीं सकती। मगर हमने जनता की परवाह ही कब की है? हमने केवल उसे दुधार गाय समझा है। वह हमारे लिए अदालतों में मुक़दमें लाती रहे, हमारे कारख़ानों की बनी हुई चीज़ें ख़रीदती रहे। इनके सिवा हमने उससे कोई प्रयोजन नहीं रखा, जिसका नतीज़ा यह है कि आज जनता को अंग्रेज़ों पर जितना विश्वास है उतना अपने पढ़े-लिखे भाइयों पर नहीं।

संयुक्त-प्रान्त के साबिक़ से पहले के गवर्नर सर विलियम मैरिस ने इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी एकेडेमी खोलते वक्त हिन्दी-उर्दू के लेखकों को जो सलाह दी थी, उसे ध्यान में रखने की आज भी उतनी ही ज़रूरत है, जितनी उस वक्त थी, शायद और ज़्यादा। आपने फ़रमाया, क्या हिन्दी के लेखकों को लिखते वक्त यह समझते रहना चाहिये कि उनके पाठक मुसलमान हैं? इसी तरह उर्दू के लेखकों को यह ख़याल रखना चाहिए कि उनके क़ारी हिन्दू हैं।

यह एक सुनहरी सलाह है और अगर हम इसे गाँठ बाँध लें, तो ज़बान का मसला बहुत कुछ तय हो जाय। मेरे मुसलमान दोस्त मुझे माफ़ फ़रमायें अगर मैं कहूँ कि इस मुआमले में वह हिन्दू-लेखकों से ज़्यादा ख़तावार हैं। संयुक्तप्रांत की कॉमन लैंग्वेज रीडरों को देखिये। आप सहल क़िस्म की उर्दू पायेंगे। हिन्दी की अदबी किताबों में भी अरबी और फ़ारसी के सैकड़ो शब्द धड़ल्ले से लाये जाते हैं, मगर उर्दू-साहित्य में फ़ारसीयत की तरफ़ ही ज़्यादा झुकाव है। इसका सबब यही है कि मुसलमानों ने हिन्दी से कोई ताल्लुक नहीं रखा है, और न रखना चाहते हैं। शायद हिन्दी से थोड़ी सी वाक़फ़ियत हासिल कर लेना भी वह ब सरे-शान समझते हैं, हालाँकि हिन्दी वह चीज़ है, जो एक हफ़्ते में आ जाती है। जब तक दोनों भाषाओं का मेल न होगा, हिन्दुस्तानी ज़बान की गाड़ी जहाँ आकर रुक गई है उससे आगे न बढ़

सकेगी। और यह सारी करामात फ़ोर्ट विलियम की है जिसने एक ही ज़बान के दो रूप मान लिये। इसमें भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनों ज़बानों में काफ़ी फ़र्क आ गया था, यह हम नहीं कह सकते, लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की ज़बान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिये उसने हमारी क़ौमी ज़िन्दगी के दो टुकड़े कर दिये। अपने हिन्दू दोस्तों से भी मेरा यही नम्र निवेदन है कि जिन शब्दों ने जन-साधारण में अपनी जगह बना ली है, और उन्हें लोग आपके मुँह या क़लम से निकलते ही समझ जाते हैं, उनके लिए संस्कृत-कोष की मदद लेने की ज़रूरत नहीं। 'मौजूद' के लिए 'उपस्थित', 'इरादा' के लिए 'संकल्प', बनावटी के लिए 'कृत्रिम' शब्दों को काम में लाने की कोई खास ज़रूरत नहीं। प्रचलित शब्दों को उनके शुद्ध रूप में लिखने का रिवाज भी भाषा को अकारण ही कठिन बना देता है। खेत को क्षेत्र, बरस का वर्ष, छेद को छिद्र, काम को कार्य, सूरज को सूर्य, जमना को यमुना लिखकर आप मुँह और जीभ के लिए ऐसी कसरत का सामान रख देते हैं जिसे ९० फ़ी सदी आदमी नहीं कर सकते। इसी मुशकिल को दूर करने और भाषा को सुबोध बनाने के लिए कवियों ने व्रजभाषा और अवधी में शब्दों के प्रचलित रूप ही रखे थे। जनता में अब भी उन शब्दों का पुराना विगड़ा हुआ रूप चलता है, मगर हम विशुद्धता की धुन में पड़े हुए हैं।

मगर सवाल यह है, क्या इस हिन्दुस्तानी में क्लासिकल भाषाओं के शब्द लिये ही न जायँ? नहीं, यह तो हिन्दुस्तानी का गला घोट देना होगा। आज साएंस की नई-नई शाखें निकलती जा रही हैं और नित नये-नये शब्द हमारे सामने आ रहे हैं, जिन्हें जनता तक पहुँचाने के लिए हमें संस्कृत या फ़ारसी की मदद लेनी पड़ती है! क़िस्से-कहानियों में तो आप हिन्दुस्तानी ज़बान का व्यवहार कर सकते हैं, वह भी जब आप गद्य-काव्य न लिख रहे हों, मगर आलोचना या तक़ीद, अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन और अनेक साएंस के विषयों में क्लासिकल भाषाओं से मदद लिये बग़ैर काम नहीं चल सकता। तो क्या संस्कृत और

अरबी या फ़ारसी से अलग-अलग शब्द बनाये जायँ ? ऐसा हुआ तो एकरूपता कहाँ आई ? फिर तो वही होगा जो इस वक्त हो रहा है। ज़रूरत तो यह है कि एक ही शब्द लिया जाय, चाहे वह संस्कृत से लिया जाय, या फ़ारसी से, या दोनों को मिलाकर कोई नया शब्द गढ़ लिया जाय। Sex के लिए हिन्दी में कोई शब्द अभी तक़ नहीं बन सका। आम तौर पर 'स्त्री-पुरुष सम्बन्धी' इतना बड़ा शब्द उस भाव को ज़ाहिर करने के लिए काम में लाया जा रहा है। उर्दू में 'जिन्स' का इस्तेमाल होता है। जिंसी, जिंसियत, आदि शब्द भी उसी से निकले हैं। कई लेखकों ने हिन्दी में भी जिंसी, जिंस, जिंसियत का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। लेकिन यह मसला आसान नहीं है। अगर हम इसे मान लें कि हिन्दुस्तान के लिए एक क़ौमी ज़बान की ज़रूरत है, जिसे सारा मुल्क समझ सके तो हमें उसके लिए तपस्या करनी पड़ेगी। हमें ऐसी सभाएँ खोलनी पड़ेंगी जहाँ लेखक लोग कभी-कभी मिलकर साहित्य के विषयों पर, या उसकी प्रवृत्तियों पर आपस में ख़यालात का तबादला कर सकें। दिलों की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस के हेल-मेल से उस दूरी को दूर करना होगा। राजनीति के पण्डितों ने क़ौम को जिस दुर्दशा में डाल दिया है वह आप और हम सभी जानते हैं। अभी तक साहित्य के सेवकों ने भी किसी-न-किसी रूप में राजनीति के पण्डितों को अगुआ माना है, और उनके पीछे-पीछे चले हैं। मगर अब साहित्यकारों को अपने विचार से काम लेना पड़ेगा। सत्यम्, शिवं, सुंदरं के उसूल को यहाँ भी बरतना पड़ेगा। सियासियाह ने सम्प्रदायों को दो कैम्पों में खड़ा कर दिया है। राजनीति की हस्ती ही इस पर क़ायम है कि दोनों आपस में लड़ते रहें। उनमें मेल होना उसकी मृत्यु है। इसलिए वह तरह-तरह के रूप बदलकर और जनता के हित का स्वाँग भरकर अब तक अपना व्यवसाय चलाती रही है। साहित्य धर्म को फ़िर्काबन्दी की हद तक गिरा हुआ नहीं देख सकता। वह समाज को सम्प्रदायों के रूप में नहीं, मानवता के रूप में देखता है। किसी धर्म की महानता और

फ़ज़ीलत इसमें है कि वह इन्सान को इन्सान का कितना हमदर्द बनाता है, उसमें मानवता (इन्सानियत) का कितना ऊँचा आदर्श है, और उस आदर्श पर वहाँ कितना अमल होता है। अगर हमारा धर्म हमें यह सिखाता है कि इन्सानियत और हमदर्दी और भाईचारा सब कुछ अपने ही धर्मवालों के लिए है, और उस दायरे से बाहर जितने लोग हैं सभी ग़ैर हैं, और उन्हें ज़िन्दा रहने का कोई हक़ नहीं, तो मैं उस धर्म से अलग होकर विधर्मी होना ज़्यादा पसन्द करूँगा। धर्म नाम है उस रोशनी का जो क़तरे को समुद्र में मिल जाने का रास्ता दिखाती है, जो हमारी ज़ात को हमाओस्त में, हमारी आत्मा को व्यापक सर्वात्मा में, मिले होने की अनुभूति या यक़ीन कराती है। और चूँकि हमारी तबीयतें एक-सी नहीं हैं, हमारे संस्कार एक-से नहीं हैं, हम उसी मंज़िल तक पहुँचने के लिए अलग-अलग रास्ते अख़्तियार करते हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न धर्मों का ज़हूर हुआ है। यह साहित्य-सेवियों का काम है कि वह सच्ची धार्मिक जाग्रति पैदा करें। धर्म के आचार्यों और राजनीति के पण्डितों ने हमें ग़लत रास्ते पर चलाया है। मगर मैं दूसरे विषय पर आ गया। हिन्दुस्तानी को व्यावहारिक रूप देने के लिए दूसरी तदबीर यह है कि मैट्रिकुलेशन तक उर्दू और हिन्दी हरेक छात्र के लिए लाज़मी कर दी जाय। इस तरह हिन्दुओं को उर्दू से और मुसलमानो को हिन्दी में काफ़ी महारत हो जायगी, और अज्ञानता के कारण जो बदगुमानी और संदेह है वह दूर हो जायगा। चूँकि इस वक्त भी तालीम का सीग़ा हमारे मिनिस्ट्रों के हाथ में है और करिकुलम में इस तब्दीली से कोई ज़ायद ख़र्च न होगा, इसलिए अगर दोनों भाई मिलकर यह मुतालबा पेश करें तो गवर्नमेंट को उसके स्वीकार करने में कोई इन्कार न हो सकेगा। मैं यक़ीन दिलाना चाहता हूँ कि इस तजवीज़ में हिन्दी या उर्दू किसी से भी पक्षपात नहीं किया गया है। साहित्यकार के नाते हमारा यह धर्म है कि हम मुल्क में ऐसी फ़िज़ा, ऐसा वातावरण लाने की चेष्टा करें जिससे हम ज़िन्दगी के हरेक पहलू में दिन-दिन आगे बढ़ें। साहित्यकार पैदाइश से सौन्दर्य का उपासक होता है। वह जीवन के हरेक

अङ्ग में, ज़िन्दगी के हरेक शोबे में, हुस्न का जिल्वा देखना चाहता है। जहाँ सामञ्जस्य या हम-आहँगी है वही सौन्दर्य है, वही सत्य है, वही हक़ीक़त है। जिन तत्त्वों से जीवन की रक्षा होती है, जीवन का विकास होता है, वही हुस्न है। वह वास्तव में हमारी आत्मा की बाहरी सूरत है। हमारी आत्मा अगर स्वस्थ है, तो वह हुस्न की तरफ़ बेअख़्तियार दौड़ती है। हुस्न में उनके लिए न रुकनेवाली कशिश है। और क्या यह कहने की ज़रूरत है कि नेफ़ाक़ और हसद, और सन्देह और संघर्ष यह मनोविकार हमारे जीवन के पोषक नहीं बल्कि घातक हैं, इसलिए वह सुंदर कैसे हो सकते हैं? साहित्य ने हमेशा इन विकारों के खिलाफ़ आवाज़ उठाई है। दुनिया में मानवजाति के कल्याण के जितने आन्दोलन हुए हैं, उन सभी के लिए साहित्य ने ही ज़मीन तैयार की है, ज़मीन ही नहीं तैयार की, बीज भी बोये और उसकी सिंचाई भी की। साहित्य राजनीति के पीछे चलनेवाली चीज नहीं, उसके आगे आगे चलनेवाला 'एडवांस गार्ड' है। वह उस विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति, और कुरुचि से होता है। और लेखक अपनी कोमल भावनाओं के कारण उस विद्रोह की ज़बान बन जाता है। और लोगों के दिलों पर भी चोट लगती है, पर अपनी व्यथा को, अपने दर्द को दिल हिला देनेवाले शब्दों में वे ज़ाहिर नहीं कर सकते। साहित्य का स्रष्टा उन चोटों को हमारे दिलों पर इस तरह अंकित करता है कि हम उनकी तीव्रता को सौगुने वेग के साथ महसूस करने लगते हैं। इस तरह साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण। जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएँ न हों; हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए, या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो वह निर्जीव साहित्य है, सत्यहीन, प्राणहीन। साहित्य में हमारी आत्माओं को जगाने की, हमारी मानवता को सचेत करने की, हमारी रसिकता को तृप्त करने की शक्ति हानी चाहिये। ऐसी ही रचनाओं से क़ौमें बनती हैं। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे

में डुबा दे, जो हमें वैराग्य, पस्तहिम्मती निराशावाद की ओर ले जाय, जिसके नज़दीक संसार दुःख का घर है और उससे निकल भागने में हमारा कल्याण है, जो केवल लिप्सा और भावुकता में डूबी हुई कथाएँ लिखकर, कामुकता को भड़काये, निर्जीव है। सजीव साहित्य वह है, जो प्रेम से लबरेज़ हो, उस प्रेम में नहीं, जो कामुकता का दूसरा नाम है, बल्कि उस प्रेम का जिसमें शक्ति है, जीवन है, आत्म-सम्मान है। अब इस तरह की नीति से हमारा काम न चलेगा।

रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देखि दिनन को फेर

अब तो हमें डा० इक़बाल का शंखनाद चाहिये—

व शाखे जिन्दगिये मा नमीज़े तिश्ना बसस्त
तलाशे चश्मए हैवाँ दलीले बे तलबीस्त। १
ता कुजा दर तहे बाले दिगराँ मी बाशी,
दर हवाये चमन आज़ाद परीदन् आमोज़। २
दर जहाँ बालो व परे ख़ेश कुशूदन आमोज़,
कि परीदन् नतवाँ बा परो बालेदिगराँ। ३

(१) मेरे जीवन की डाली के लिए तृषा की तरी ही काफ़ी है। अमृतकुंड की खोज में भटकना आकांक्षा के अभाव का प्रमाण है।

(२) दूसरों के डैनों का आश्रय तुम कब तक लोगे? चमन की हवा में आज़ाद होकर उड़ना सीखो।

(३) दुनिया में अपने डैने-पंखे को फैलाना सीखो। क्योंकि दूसरों के डैने-पंखे के सहारे उड़ना सम्भव नहीं है।

जब हिन्दुस्तानी क़ौमी ज़बान है, क्योंकि किसी न किसी रूप में यह पन्द्रह-सोलह करोड़ आदमियों की भाषा है, तो यह भी ज़रूरी है कि हिन्दुस्तानी ज़बान में ही हमें भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ पढ़ने को मिलें। आप जानते हैं हिन्दुस्तान में बारह उन्नत भाषाएँ हैं और उनके साहित्य हैं। उन साहित्यों में जो कुछ संग्रह करने लायक है वह हमें हिन्दुस्तानी ज़बान में ही मिलना चाहिये। किसी भाषा में भी जो-जो अमर साहित्य है वह सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति है। मगर

अभी तक उन साहित्यों के द्वार हमारे लिए बन्द थे, क्योंकि हिन्दुस्तान की बारहों भाषाओं का ज्ञान बिरले ही किसी को होगा। राष्ट्र प्राणियों के उस समूह को कहते हैं कि जिनकी एक विद्या, एक तहज़ीब हो, एक राजनैतिक संगठन हो, एक भाषा हो और एक साहित्य हो। हम और आप दिल से चाहते हैं कि हिन्दुस्तान सच्चे मानी में एक क़ौम बने। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि भेद पैदा करनेवाले कारणों को मिटायें और मेल पैदा करनेवाले कारणों को संगठित करें। क़ौम की भावना यूरप में भी दो-ढाई सौ साल से ज्यादा पुरानी नहीं। हिन्दुस्तान में तो यह भावना अंग्रेज़ी राज के विस्तार के साथ ही आई है। इस .गुलामी का एक रोशन पहलू यही है कि उसने हममें क़ौमियत की भावना को जन्म दिया। इस .खुदादाद मौक़े से फ़ायदा उठाकर हमें क़ौमियत के अटूट रिश्ते में बँध जाना है। भाषा और साहित्य का भेद ही ख़ास तौर से हमें भिन्न-भिन्न प्रांतीय जत्थों में बाँटे हुए है। अगर हम इन अलग करनेवाली बाधा को तोड़ दें तो राष्ट्रीय संस्कृति की एक धारा बहने लगेगी जो क़ौमियत की सबसे मज़बूत भावना है। यही मक़सद सामने रखकर हमने 'हंस' नाम की एक मासिक पत्रिका निकालनी शुरू की है जिसमें हरेक भाषा के नये और पुराने साहित्य की अच्छी से अच्छी चीज़ें देने की कोशिश करते हैं। इसी मक़सद को पूरा करने के लिए हमने एक भारतीय साहित्य परिषद् या हिन्दुस्तान की क़ौमी अदबी सभा की बुनियाद डालने की तजवीज़ की है, और परिषद् का पहला जलसा २३, २४* को नागपूर में महात्मा गांधी की सदारत में क़रार पाया है। हम कोशिश कर रहे हैं कि परिषद् में सभी सूबे के साहित्यकार आयें और आपस में ख़यालात का तबादला करके हम तजवीज़ को ऐसी सूरत दें जिसमें वह अपना मक़सद पूरा कर सके। बाज़ सूबों में अभी से प्रांतीयता के जज़बात पैदा होने लगे हैं। 'सूबा सूबेवालों के लिए' की सदाएँ उठने लगी हैं। हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए की सदा इस प्रांतीयता की चीख़-पुकार में कहीं सूख न जाय, इसका

* २३' २४ अप्रैल, १९३६।

अंदेशा अभी से होने लगा है। अगर बंगाल बंगाल के लिए, पंजाब पंजाब के लिए की हवा ने ज़ोर पकड़ा तो वह क़ौमियत की जो जन्नत गुलामी के पसीने और ज़िल्लत से बनी थी मादूम हो जायगी और हिन्दुस्तान फिर छोटे-छोटे राजों का समूह होकर रह जायगा और फिर क़यामत के पहले उसे पराधीनता की क़ैद से नजात न होगी। हमें अफ़सोस तो यह है कि इस क़िस्म की सदाएँ उन दिशाओं से आ रही हैं जहाँ से हमें एकता की दिल बढ़ानेवाली सदाओं की उम्मीद थी। डेढ़ सौ साल की गुलामी ने कुछ-कुछ हमारी आँखें खोलनी शुरू की थीं कि फिर वही प्रांतीयता की आवाज़ें पैदा होने लगीं। और इस नई व्यवस्था ने उन भेद-भावों के फलने-फूलने के लिए ज़मीन तैयार कर दी है। अगर 'प्राविंशल'अटानोमी' ने यह सूरत अख़्तियार की तो वह हिन्दुस्तानी क़ौमियत की जवान मौत नहीं, बाल मृत्यु होगी। और वह तफ़रीक़ जाकर रुकेगी कहाँ? उसकी तो कोई इति ही नहीं। सूबा सूबे के लिए, ज़िला ज़िले के लिए, हिन्दू हिन्दू के लिए, मुसलिम मुसलिम के लिए, ब्राह्मण ब्राह्मण के लिए, वैश्य वैश्य के लिए, कपूर कपूर के लिए, सकसेना सकसेना के लिए, इतनी दीवारों और कोठरियों के अन्दर क़ौमियत कै दिन साँस ले सकेगी! हम देखते हैं कि ऐतिहासिक परम्परा प्रांतीयता की ओर है। आज जो अलग-अलग सूबे हैं किसी ज़माने में अलग-अलग राज थे, क़ुदरती हदें भी उन्हें दूसरे सूबों से अलग किये हुए हैं, और उनकी भाषा, साहित्य, संस्कृति सब एक हैं। लेकिन एकता के ये सारे साधन रहते हुए भी वह अपनी स्वाधीनता को क़ायम न रख सके इसका सबब यही तो है कि उन्होंने अपने को अपने क़िले में बन्द कर लिया और बाहर की दुनिया से कोई सम्बन्ध न रखा। अगर उसी अलहदगी की रीति से वह फिर काम लेंगे तो फिर शायद तारीख़ अपने को दोहराये। हमें तारीख़ से यही सबक़ न लेना चाहिये कि हम क्या थे। यह भी देखना चाहिये कि हम क्या हो सकते थे। अकसर हमें तारीख़ को भूल जाना पड़ता है। भूत हमारे भविष्य का रहबर नहीं हो सकता। जिन कुपथ्यों से हम बीमार हुए थे, क्या अच्छे हो

जाने पर फिर वही कुपथ्य करेंगे ? और चूँकि इस अलहदगी की बुनियाद भाषा है, इसलिए हमें भाषा ही के द्वार से प्रांतीयता की काया में राष्ट्रीयता के प्राण डालने पड़ेंगे। प्रांतीयता का सदुपयोग यह है कि हम उस किसान की तरह जिसे मौरूसी पट्टा मिल गया हो अपनी ज़मीन को .खूब जोतें, उसमें .खूब खाद डालें और अच्छी से अच्छी फ़सल पैदा करें। मगर उसका यह आशय हर्गिज़ न होना चाहिये कि हम बाहर से अच्छे बीज और अच्छी खाद लाकर उसमें न डालें। प्रांतीयता अगर अयोग्यता को क़ायम रखने का बहाना बन जाय तो यह उस प्रांत का दुर्भाग्य होगा और राष्ट्र का भी। इस नये खतरे का सामना करना होगा और वह मेल पैदा करनेवाली शक्तियों को संगठित करने ही से हो सकता है।

सज्जनो, साहित्यिक जागृति किसी समाज की सजीवता का लक्षण है। साहित्य की सबसे अच्छी तारीफ़ जो की गई है वह यह है कि वह अच्छे से अच्छे दिल और दिमाग़ के अच्छे से अच्छे भावों और विचारों का संग्रह है। आपने अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ा है। उन साहित्यिक चरित्रों के साथ आपने उससे कहीं ज़्यादा अपनापा महसूस किया है जितना आप किसी यहाँ के साहब बहादुर से कर सकते हैं। आप उसकी इंसानी सूरत देखते हैं, जिसमें वही वेदनाएँ हैं, वही प्रेम है, वही कमज़ोरियाँ हैं जो हममें और आपमें हैं। वहाँ वह हुकूमत और .गुरूर का पुतला नहीं, बल्कि हमारे और आपका-सा इन्सान है जिसके साथ हम दुखी होते हैं, हँसते हैं, सहानुभूति करते हैं। साहित्य बदगुमानियों को मिटानेवाली चीज़ है। अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साहित्य से ज़्यादा परिचित हों, मुमकिन है हम अपने को एक दूसरे से कहीं ज़्यादा निकट पायें। साहित्य में हम हिन्दू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं, बल्कि मनुष्य हैं, और वह मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती है। क्या यह खेद की बात नहीं है कि हम दोनों, जो एक मुल्क में आठ सौ साल से रहते हैं, एक दूसरे के पड़ोस में रहते हैं, एक दूसरे के साहित्य से इतने बेख़बर

हैं ? यूरोपियन विद्वानों को देखिए। उन्होंने हिन्दुस्तान के मुतअल्लिक हरेक मुमकिन विषय पर तहक़ीक़ातें की हैं, पुस्तकें लिखी हैं, वह हमें उससे ज्यादा जानते हैं जितना हम अपने को जानते हैं। उसके विपरीत हम एक दूसरे से अनभिज्ञ रहने ही में मग्न हैं। साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है। जिस हिन्दू ने कर्बला की मारके की तारीख पढ़ी है, यह असम्भव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ा है, उसके दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यक़ीनी है। कम-से-कम उत्तरी हिन्दुस्तान में हरेक शिक्षित हिन्दू-मुसलिम को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिये, अगर वह मुसलमान है तो हिन्दुओं के और हिन्दू है तो मुसलमानों के साहित्य से अपरिचित है। हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाज़मी है। और जब हम जिन्दगी के पंद्रह साल अँगरेज़ी हासिल करने में कुरबान करते हैं तो क्या महीने-दो-महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते जिस पर हमारी क़ौमी तरक़्क़ी ही नहीं, क़ौमी जिन्दगी का दारमदार है ?

---

* आर्यसमाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन के वार्षिक अवसर पर लाहौर में दिया गया भाषण।

जीवन में साहित्य का स्थान

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं ; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है ; इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है ; इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं ; लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए क़ानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवन-पर्यंत आनंद ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लम्बे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में ; लेकिन साहित्य का आनंद, इस आनंद से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुंदर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनंद सुंदर और सत्य से मिलता है, उसी आनंद को दर्साना, वही आनंद उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चात्ताप भी हो सकता है ; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नौ रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनन्द है ? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेन्दु ने श्मशान का जो वर्णन किया है, वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अधजले माँस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है ; लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है ; क्योंकि

उसकी सृष्टि पीछे आनेवाले स्वर्गीय दृश्य के आनन्द को तीव्र करने के लिए ही हुई है। साहित्य तो हरएक रस में सुन्दर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर ऊषा की लाली में, सावन-भादों की अँधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुंदर, मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है, वहीं आनंद है। आनंद कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या सम्बन्ध; अतएव हमारा विचार है, कि साहित्य में केवल एक रस है और वह शृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है, जो शृंगार-विहीन और अ-सुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है; लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुंदर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिए सतत उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय-मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव हैं, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का संम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध है और तीसरा आनंद का। जिज्ञासा का सम्बंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बंध विज्ञान का विषय है और साहित्य का विषय केवल आनंद का सम्बंन्ध है। सत्य जहाँ आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का सम्बंध विचार से है, प्रयोजन का सम्बंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनंद का सम्बंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक ही दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नज़रों से देख सकते हैं। हिम से ढँके हुए पर्वत पर ऊषा का दृश्य दार्शनिक के गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिए

अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की ! विह्वलता एक प्रकार का आत्म समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचंद्र शबरी के जूठे बेर क्यों प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान विदुर के शाक को क्यों नाना व्यञ्जनों से रुचिकर समझते हैं; इसी लिए कि उन्होंने इस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत् के लिए स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा, जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहाँ तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो जड़ जगत् से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें, जीवन क्या है ? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव-जीवन में भी यह सब प्रवृत्तियाँ होती हैं; क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरान्त कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं, कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वांछनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा उत्पन्न होती है वे दूषित हैं। अहङ्कार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्सन्देह वह हमें नाश और पतन की ओर ले जायँगी इसलिए हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाँटकर कहना—तुम बड़े बदमाश हो. हम तुम्हारे कान पकड़कर उखाड़ लेंगे—अक्सर व्यर्थ ही होता है; बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत यह होती है, कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं, उन्हें ऐसा

उत्तेजित किया जाय, कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जायँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए संयम की आवश्यकता होती है। साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों-द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते, उसी भाँति, जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से सम्भव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाज़ी ले जाता है। यही कारण है, कि हमें उपनिषदों और अन्य-धर्म-ग्रन्थों के साहित्य की सहायता लेते देखते हैं! हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनंद की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएँ, तौरेह, कुरान, इञ्जील ये सभी मानवी कथाओं के संग्रह-मात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्मा हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिये, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म-प्रवर्त्तकों ने अकारण ही मानवी जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं, उन्हों ने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना सन्देशा पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे। उन्होंने मानव-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानवजाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर वे मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदि काल से मनुष्य के लिए सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसी से हमारी आत्मा का अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक-जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पार्थक्य मिट जाता है।

हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव-जाति ही नहीं, चर और अचर, जड़ और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे ; पर आज रंक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है, जो पशुओं में, ईंट-पत्थरों में, पेड़-पौधों में भी विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव-हृदय का जगत्, इस प्रत्यक्ष जगत् जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव-जगत् के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उसके सुख-दुःख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम बन्धु-बांधवों से अपने को इतना निकट नहीं पाते; इसलिए कि हम उसके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं। उसका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अन्तःकरण में हम इतनी स्वाधीनता से बिचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है, कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त कर ली हो, कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है। 'टाम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है ; पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं ;

पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तबदीलियाँ नहीं होती। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदि कवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित् अनन्त तक रहेंगे। रामायण के समय का समय अब नहीं है; महाभारत का समय भी अतीत हो गया; पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है; क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है; और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास हैं। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिविम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी सन्देह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव से बुरे हैं वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ; पर असुंदर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें; पर यह असम्भव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज़्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में क़तलाम करानेवाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का क़तलाम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई सन्देह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने क़तलाम को बंद करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वज़ीर एक रसिक मनुष्य था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शांत होता और दिल्लीवालों के ख़ून की नदी बहती चली

जाती है, यहाँ तक कि .खुद नादिरशाह के मुँहलगे अफ़सर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न माँद कि दीगर ब तेग़े नाज़ कुशी ।
मगर कि ज़िन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज़ कुशी ।'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को ज़िन्दा न छोड़ा । अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे । यह फ़ारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार-विषयक शेर है ; पर इसे सुनकर क़ातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा । इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और क़तलाम तुरन्त बन्द कर दिया गया । नेपोलियन के जीवन की यह घटना भी प्रसिद्ध है, जब उसने एक अँग्रेज़ मल्लाह को झाऊ की नाव पर कैले का समुद्र पार करते देखा । जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर, नेपोलियन के सामने लाये और उसने पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी वृद्धा माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था । नेपालियन की आँखों में आँसू छल-छला आये । मनुष्य का कोमल भाग स्पन्दित हो उठा । उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इङ्गलैंड भेज दिया । मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है । ज़माने के छल-प्रपञ्च, या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है । साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पन्दित करके, मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके । हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है । हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं । विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है । इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य । योरप का साहित्य उठा लीजिए । आप वहाँ संघर्ष पायेंगे । कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं

जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी युरोपियन महात्मा का उपदेश सुनकर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नई सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नहीं; पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है; पर इसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है वह ठीक रास्ता नहीं है; पर वह इतनी दूर जा चुका है, कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा। चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीदकर, कम्पनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसायटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बन्धन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किये हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे में न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे में ढलकर सीता हुईं। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते; पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी संसार में वैद्यों की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद

कुछ कम ज़िम्मेदारी का नहीं है। क़लम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू करते हैं। .खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आँखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह में बहने लगते हैं। बुराइयों के नग्न चित्र खींचने में कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की ज़रूरत है ; पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मज़ेदार, चटपटी और ओज-पूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है ; पर स्थायी-साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हें बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है ; क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुरसी पर बैठकर मुक़दमे का फ़ैसला करने से कहीं ऊँचा है। उसके लिए केवल डिग्रियाँ और ऊँची शिक्षा काफ़ी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्व का ज्ञान, इसकी कहीं ज़्यादा ज़रूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिये। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर

आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हममें सच्चे साहित्य-सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्मज्ञानी !

उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी

यह बात सभी लोग मानते हैं कि राष्ट्र को दृढ़ और बलवान बनाने के लिए देश में सांस्कृतिक एकता का होना बहुत आवश्यक है। और किसी राष्ट्र की भाषा तथा लिपि इस सांस्कृतिक एकता का एक विशेष अङ्ग है। श्रीमती ख़लीदा अदीब ख़ानम ने अपने एक भाषण में कहा था कि तुर्की जाति और राष्ट्र की एकता तुर्की भाषा के कारण ही हुई है। और यह निश्चित बात है कि राष्ट्रीय भाषा के बिना किसी राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय भाषा न हो, तब तक वह राष्ट्रीयता का दावा नहीं कर सकता। सम्भव है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष एक राष्ट्र रहा हो; परन्तु बौद्धों के पतन के उपरान्त उसकी राष्ट्रीयता का भी अन्त हो गया था। यद्यपि देश में सांस्कृतिक एकता वर्त्तमान थी, तो भी भाषाओं के भेद ने देश को खण्ड-खण्ड करने का काम और भी सुगम कर दिया था। मुसलमानों के शासन-काल में भी जो कुछ हुआ था, उसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों का राजनीतिक एकीकरण तो हो गया था, परन्तु उस समय भी देश में राष्ट्रीयता का अस्तित्व नहीं था। और सच बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत बहुत थोड़े दिनों से संसार में उत्पन्न हुई है और इसे उत्पन्न हुए लगभग दो सौ वर्षों से अधिक नहीं हुए। भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का आरम्भ अंगरेज़ी राज्य की स्थापना के साथ-साथ हुआ था। और उसी की दृढ़ता के साथ-साथ इसकी भी वृद्धि हो रही है। लेकिन इस समय राजनीतिक पराधीनता के अतिरिक्त देश के भिन्न-भिन्न अङ्गों और तत्त्वों में कोई ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है जो उन्हें संघटित करके एक राष्ट्र का स्वरूप दे सके। यदि आज भारतवर्ष से अंगरेज़ी राज्य उठ जाय तो इन तत्त्वों में जो एकता इस समय दिखाई दे रही है, बहुत सम्भव है कि वह विभेद और विरोध का रूप धारण

कर ले और भिन्न-भिन्न भाषाओं के आधार पर एक ऐसा नया संघटन उत्पन्न हो जाय जिसका एक दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध ही न हो। और फिर वही खींचातानी शुरू हो जाय जो अंगरेज़ों के यहाँ आने से पहले थी। अतः राष्ट्र के जीवन के लिए यह बात आवश्यक है कि देश में सांस्कृतिक एकता हो। और भाषा की एकता उस सांस्कृतिक एकता का प्रधान स्तम्भ है; इसलिए यह बात भी आवश्यक है कि भारतवर्ष की एक ऐसी राष्ट्रीय भाषा हो जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोली और समझी जाय। इसी बात का आवश्यक परिणाम यह होगा कि कुछ दिनों में राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि भी आरम्भ हो जायगी और एक ऐसा समय आयेगा, जब कि भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों के साहित्यिक मण्डल में हिन्दुस्तानी भाषा भी बराबरी की हैसियत से शामिल होने के क़ाबिल हो जायगी।

परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस राष्ट्रीय भाषा का स्वरूप क्या हो? आज-कल भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो भाषाएँ प्रचलित हैं उसमें तो राष्ट्रीय-भाषा बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि उनके कार्य और प्रचार का क्षेत्र परिमित है। केवल एक ही भाषा ऐसी है जो देश के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती है और उससे भी कहीं बड़े भाग में समझी जाती है। और उसी को राष्ट्रीय भाषा का पद दिया जा सकता है। परन्तु इस समय उस भाषा के तीन स्वरूप हैं—उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी। और अभी तक यह बात राष्ट्रीय-रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है कि इनमें से कौन-सा स्वरूप ऐसा है जो देश में सबसे अधिक मान्य हो सकता है और जिसका प्रचार भी ज्यादा आसानी से हो सकता है। तीनों ही स्वरूपों के पक्षपाती और समर्थक मौजूद हैं और उनमें खींचा-तानी हो रही है। यहाँ तक कि इस मत-भेद को राजनीतिक स्वरूप दे दिया गया है और हम इस प्रश्न पर शान्त चित्त और शान्त मस्तिष्क से विचार करने के अयोग्य हो गये हैं।

लेकिन इन सब रुकावटों के होते हुए भी यदि हम भारतीय राष्ट्रीयता के लक्ष्य तक पहुँचना और उसकी सिद्धि करना असम्भव

समझकर हिम्मत न हार बैठें तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न की किसी-न-किसी प्रकार मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है ।

देश में ऐसे आदमियों की संख्या कम नहीं है जो उर्दू और हिन्दी की अलग-अलग और स्वतन्त्र उन्नति और विकास के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहते । उन्होंने यह मान लिया है कि आरम्भ में इन दोनों के स्वरूपों में चाहे जो कुछ एकता और समानता रही हो, लेकिन फिर भी इस समय दोनों की दोनों जिस रास्ते पर जा रही हैं, उसे देखते हुए इन दोनों में मेल और एकता होना असम्भव ही है । प्रत्येक भाषा की एक प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है । उर्दू का फ़ारसी और अरबी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है । और हिन्दी का संस्कृत तथा प्राकृत के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है । उनकी यह प्रवृत्ति हम किसी शक्ति से रोक नहीं सकते । फिर इन दोनों को आपस में मिलाने का प्रयत्न करके हम क्यों व्यर्थ इन दोनों को हानि पहुँचावें ?

यदि उर्दू और हिन्दी दोनों अपने आपको अपने जन्म-स्थान और प्रचार-क्षेत्र तक ही परिमित रखें तो हमें इनकी प्राकृतिक वृद्धि और विकास के सम्बन्ध में कोई आपत्ति न हो । बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू और कन्नडी आदि प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है । उन्हें अधिकार है कि वे अपने अन्दर चाहें जितनी संस्कृत, अरबी या लैटिन आदि भरती चलें । उन भाषाओं के लेखक आदि स्वयं ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं ; परन्तु उर्दू और हिन्दी की बात इन सबसे अलग है । यहाँ तो दोनों ही भारत-वर्ष की राष्ट्रीय भाषा कहलाने का दावा करती हैं । परन्तु वे अपने व्यक्तिगत रूप में राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकीं और इसी लिए संयुक्त रूप में स्वयं ही उनका संयोग और मेल आरम्भ हो गया । और दोनों का यह सम्मिलित स्वरूप उत्पन्न हो गया जिसे हम बहुत ठीक तौर पर हिन्दुस्तानी ज़बान कहते हैं । वास्तविक बात तो यह है कि भारतवर्ष की राष्ट्रीय-भाषा न तो वह उर्दू ही हो सकती है जो अरबी और फारसी के अप्रचलित तथा अपरिचित शब्दों के भार

से लदी रहती है और न वह हिन्दी ही हो सकती है जो संस्कृत के कठिन शब्दों से लदी हुई होती है। यदि इन दोनों भाषाओं के पक्षपाती और समर्थक आमने-सामने खड़े होकर अपनी साहित्यिक भाषाओं में बातें करें तो शायद एक दूसरे का कुछ भी मतलब न समझ सकें। हमारी राष्ट्रीय भाषा तो वही हो सकती है जिसका आधार सर्व-सामान्य-बोधगम्यता हो—जिसे सब लोग सहज में समझ सकें। वह इस बात की क्यों परवाह करने लगी कि अमुक शब्द इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिये कि वह फ़ारसी, अरबी अथवा संस्कृत का है? वह तो केवल यह मान-दण्ड अपने सामने रखती है कि जन-साधारण यह शब्द समझ सकते हैं वा नहीं। और जन-साधारण में हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, बंगाली, महाराष्ट्र और गुजराती सभी सम्मिलित हैं। यदि कोई शब्द या मुहावरा या पारिभाषिक शब्द जन साधारण में प्रचलित है तो फिर वह इस बात की परवाह नहीं करती कि वह कहाँ से निकला है और कहाँ से आया है। और यही हिन्दुस्तानी है। और जिस प्रकार अंगरेज़ों की भाषा अंगरेज़ी, जापान की जापानी, ईरान की ईरानी और चीन की चीनी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय भाषा को इसी तौर पर हिंदुस्तानी कहना केवल उचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। और अगर इस देश को हिंदुस्तान न कहकर केवल हिंद कहें तो इसकी भाषा को हिंदी कह सकते हैं। लेकिन यहाँ की भाषा को उर्दू तो किसी प्रकार कहा ही नहीं जा सकता, जब तक हम हिंदुस्तान को उर्दूस्तान न कहने लगें, जो अब किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है। प्राचीन काल के लोग यहाँ की भाषा को हिन्दी ही कहते थे। और ख़ुसरो ने ख़ालिकबारी की रचना करके हिन्दुस्तानी की नींव रखी थी। इस ग्रंथ की रचना में कदाचित् उसका यही अभिप्राय होगा कि जन-साधारण की आवश्यकता के शब्द उन्हें दोनों ही रूपों में सिखलाये जायँ, जिसमें उन्हें अपने रोज़मर्रा के कामों में सहूलियत हो जाय। अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो सका है कि उर्दू की सृष्टि कब और कहाँ हुई थी। जो हो; परंतु भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा न तो उर्दू ही है और न हिन्दी;

बल्कि वह हिन्दुस्तानी है जो सारे हिन्दुस्तान में समझी जाती है और उसके बहुत बड़े भाग में बोली जाती है; लेकिन फिर भी लिखी कहीं नहीं जाती। और यदि कोई लिखने का प्रयत्न करता है तो उर्दू और हिन्दी के साहित्यिज्ञ उसे टाट बाहर कर देते हैं। वास्तव में उर्दू और हिंदी की उन्नति में जो बात बाधक है, वह उनका वैशिष्ट्य प्रेम है। हम चाहे उर्दू लिखें और चाहे हिन्दी, जन-साधारण के लिए नहीं लिखते; बल्कि एक परिमित वर्ग के लिए लिखते हैं। और यही कारण है कि हमारी साहित्यिक रचनाएँ जन-साधारण को प्रिय नहीं होतीं। यह बात बिलकुल ठीक है कि किसी देश में भी लिखने और बोलने की भाषाएँ एक नहीं हुआ करतीं। जो अंग्रेज़ी हम किताबों और अख़बारों में पढ़ते हैं, वह कहीं बोली नहीं जाती। पढ़े-लिखे लोग भी उस भाषा में बातचीत नहीं करते, जिस भाषा में ग्रन्थ और समाचार-पत्र आदि लिखे जाते हैं। और जन-साधारण की भाषा तो बिलकुल अलग ही होती है। इंग्लैंड के हर एक पढ़े-लिखे आदमी से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह लिखी जानेवाली भाषा समझे और अवसर पड़ने पर उसका प्रयोग भी कर सके। यही बात हम हिन्दुस्तान में भी चाहते हैं।

परंतु आज क्या परिस्थिति है? हमारे हिन्दीवाले इस बात पर तुले हुए हैं कि हम हिन्दी से भिन्न भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में किसी तरह घुसने ही न देंगे। उन्हें 'मनुष्य' से तो प्रेम है; परंतु 'आदमी' से पूरी-पूरी घृणा है। यद्यपि 'दरख़्वास्त' जन-साधारण में भली-भाँति प्रचलित है; परंतु फिर भी उनके यहाँ इसका प्रयोग वर्जित है। इसके स्थान पर वे 'प्रार्थना' पत्र ही लिखना चाहते हैं, यद्यपि जन-साधारण इसका मतलब बिलकुल ही नहीं समझता। 'इस्तीफ़ा' को वे किसी तरह मंजूर नहीं कर सकते और इसके स्थान पर वे 'त्याग-पत्र' रखना चाहते हैं। 'हवाई जहाज़' चाहे कितना ही सुबोध क्यों न हो, परंतु उन्हें 'वायु-यान' की सैर ही पसन्द है। उर्दूवाले तो इस बात पर और भी अधिक लट्टू हैं। वे 'ख़ुदा' को तो मानते हैं, परंतु 'ईश्वर' को नहीं मानते। 'कुसूर' तो वे बहुत-से कर सकते हैं, परंतु 'अपराध' कभी

नहीं कर सकते। 'ख़िदमत' तो उन्हें बहुत पसंद है, परंतु 'सेवा' उन्हें एक आँख भी नहीं भाती। इसी तरह हम लोगों ने उर्दू और हिन्दी के दो अलग-अलग कैम्प बना लिए हैं। और मजाल नहीं कि एक कैम्प का आदमी दूसरे कैम्प में पैर भी रख सके। इस दृष्टि से हिन्दी के मुक़ाबले में उर्दू में कहीं अधिक कड़ाई है। हिन्दुस्तानी इस चारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है, जिसमें दोनों एक दूसरे के घर बिना किसी प्रकार के संकोच के आ-जा सकें ; और वह भी सिर्फ़ मेहमान की हैसियत से नहीं, बल्कि घर के आदमी की तरह। 'गारसन डि टासी' के शब्दों में उर्दू और हिन्दी के बीच में कोई ऐसी विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती जहाँ एक को विशेष रूप से हिन्दी और दूसरी को उर्दू कहा जा सके। अंग्रेज़ी भाषा के भी अनेक रंग हैं। कहीं लैटिन और यूनानी शब्दों की अधिकता होती है, कहीं ऐंग्लो-सैक्सन शब्दों की। परंतु है दोनों ही अंग्रेज़ी। इसी प्रकार हिन्दी या उर्दू शब्दों के विभेद के कारण दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ नहीं हो सकतीं। जो लोग भारतीय-राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं और जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिन्दुस्तानी का निमन्त्रण ग्रहण करें जो कोई नई भाषा नहीं है ; बल्कि उर्दू और हिंदी का राष्ट्रीय स्वरूप है।

संयुक्त-प्रान्त के अपर प्राइमरी स्कूलों में चौथे दरजे तक इसी मिश्रित भाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की रीडरें पढ़ाई जाती हैं। केवल उनकी लिपि अलग होती है। उनकी भाषा में कोई अन्तर नहीं होता। इसमें शिक्षा-विभाग का उद्देश्य यह होगा कि इस प्रकार विद्यार्थियों में बचपन में ही हिन्दुस्तानी की नींव पड़ जायगी और वे उर्दू तथा हिन्दी के विशेष प्रचलित शब्दों से भली-भाँति परिचित हो जायँगे और उन्हीं का प्रयोग करने लगेंगे। इसमें दूसरा लाभ यह भी है कि एक ही शिक्षक शिक्षा दे सकता है। इस समय भी यही व्यवस्था प्रचलित है। लेकिन हिन्दी और उर्दू के पक्षपातियों की ओर से इसकी शिकायतें शुरू हो गई हैं कि इस मिश्रित भाषा की शिक्षा से विद्यार्थियों को कुछ भी

साहित्यिक ज्ञान नहीं होने पाता और वे अपर प्राइमरी के बाद भी साधारण पुस्तकें तक नहीं समझते। इसी शिकायत को दूर करने के लिए इन रीडरों के अतिरिक्त अपर प्राइमरी दरजों के लिए एक साहित्यिक रीडर भी नियत हुई है। हमारे मासिक-पत्र, समाचार-पत्र और पुस्तकें आदि विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित होती हैं। इसलिए जब तक उर्दू पढ़नेवाले लड़कों के पास फ़ारसी और अरबी शब्दों का और हिन्दी पढ़नेवाले लड़कों के पास संस्कृत शब्दों का यथेष्ट भंडार न हो, तब तक वे उर्दू या हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं समझ सकते। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही हमारे यहाँ उर्दू और हिन्दी का विभेद आरम्भ हो जाता है। क्या इस विभेद को मिटाने का कोई उपाय नहीं है?

जो लोग इस विभेद के पक्षपाती हैं, उनके पास अपने-अपने दावे की दलीलें और तर्क भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिए विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती कहते हैं कि संस्कृत की ओर झुकने से हिन्दी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं के पास पहुँच जाती है। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे बने-बनाये शब्द मिल जाते हैं; लिखावट में साहित्यिक रूप आ जाता है, आदि, आदि। इसी तरह उर्दू का झण्डा लेकर चलनेवाले कहते हैं कि फ़ारसी और अरबी की ओर झुकने से एशिया की दूसरी भाषाएँ, जैसे फ़ारसी और अरबी, उर्दू के पास आ जाती हैं। अपने विचार प्रकट करने के लिए उसे अरबी का विद्या-सम्बन्धी भांडार मिल जाता है, जिससे बढ़कर विद्या की भाषा और कोई नहीं है, और लेखन-शैली में गम्भीरता और शान आ जाती है, आदि, आदि। इसलिए क्यों न इन दोनों को अपने-अपने ढंग पर चलने दिया जाय और उन्हें आपस में मिलाकर क्यों दोनों के रास्तों में रुकावटें पैदा की जायँ? यदि सभी लोग इन तर्कों से सहमत हो जायँ, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि हिन्दुस्तान में कभी राष्ट्रीय भाषा की सृष्टि न हो सकेगी। इसलिए हमें आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके, हम इस प्रकार की धारणाओं को दूर करके ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करें जिससे हम दिन पर दिन राष्ट्रीय भापा के और भी अधिक समीप

पहुँचते जायँ, और सम्भव है कि दस-बीस वर्षों में हमारा स्वप्न यथार्थता में परिणत हो जाय।

हिन्दुस्तान के हर एक सूबे में मुसलमानों की थोड़ी-बहुत संख्या मौजूद ही है। संयुक्त प्रान्त के सिवा और-और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा अपना ली है। बंगाल का मुसलमान बँगला बोलता और लिखता है, गुजरात का गुजराती, मैसूर का कन्नड़ी, मदरास का तमिल और पंजाब का पंजाबी आदि। यहाँ तक कि उसने अपने अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है। उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है, लेकिन नित्यप्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिल्कुल आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि दूसरे-दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक अपनी भी बना सकते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता, तो फिर संयुक्तप्रांत और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं? हमारे सूबे के देहातों में रहनेवाले मुसलमान प्रायः देहातियों की भाषा ही बोलते हैं। जो बहुत-से मुसलमान देहातों से आकर शहरों में आबाद हो गये हैं, वे भी अपने घरों में देहाती ज़बान ही बोलते हैं। बोल-चाल की हिन्दी समझने में न तो साधारण मुसलमानों को ही कोई कठिनता होती है और न बोल-चाल की उर्दू समझने में साधारण हिन्दुओं को ही। बोल चाल की हिन्दी और उर्दू प्रायः एक-सी ही हैं। हिन्दी के जो शब्द साधारण पुस्तकों और समाचार-पत्रों में व्यवहृत होते हैं और कभी-कभी पण्डितों के भाषणों में भी आ जाते हैं, उनकी संख्या दो हज़ार से अधिक न होगी। इसी प्रकार फ़ारसी के साधारण शब्द भी इससे अधिक न होंगे। क्या उर्दू के वर्त्तमान कोषों में दो हज़ार हिन्दी शब्द और हिन्दी के कोषों में दो हज़ार उर्दू शब्द नहीं बढ़ाये जा सकते? और इस प्रकार हम एक मिश्रित कोष की सृष्टि नहीं कर सकते? क्या हमारी स्मरण-शक्ति पर यह भार असह्य होगा? हम अंगरेज़ी के

असंख्य शब्द याद कर सकते हैं और वह भी केवल एक अस्थायी आवश्यकता की पूर्त्ति करने के लिए। तो फिर क्या हम एक स्थायी उद्देश्य की सिद्धि के लिए थोड़े-से शब्द भी याद नहीं कर सकते। उर्दू और हिन्दी भाषाओं में न तो अभी विस्तार ही है और न दृढ़ता। उनके शब्दों की संख्या परिमित है। प्रायः साधारण अभिप्राय प्रकट करने के लिए भी उपयुक्त शब्द नहीं मिलते। शब्दों की इस वृद्धि से यह शिकायत दूर हो सकती है।

भारतवर्ष की सभी भाषाएँ या तो प्रत्यक्ष रूप से और या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी और बँगला की तो लिपियाँ भी देव-नागरी से मिलती-जुलती हैं। यद्यपि दक्षिणी भारत की भाषाओं की लिपियाँ बिल्कुल भिन्न हैं; परन्तु फिर भी उनमें संस्कृत शब्दों की बहुत अधिकता है। अरबी और फ़ारसी के शब्द भी सभी प्रांतीय भाषाओं में कुछ न कुछ मिलते हैं। परंतु उनमें संस्कृत शब्दों की उतनी अधिकता नहीं होती जितनी हिन्दी में होती है। इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि भारतवर्ष में ऐसी हिन्दी बहुत सहज में स्वीकृत और प्रचलित हो सकती है जिसमें संस्कृत के शब्द अधिक हों। दूसरे प्रांतों के मुसलमान भी ऐसी हिन्दी सहज में समझ सकते हैं; परंतु फ़ारसी और अरबी के शब्दों से लदी हुई उर्दू भाषा के लिए संयुक्त प्रांत और पंजाब के नगरों और क़स्बों तथा हैदराबाद के बड़े-बड़े शहरों के सिवा और कोई क्षेत्र नहीं। मुसलमान संख्या में अवश्य आठ करोड़ हैं; लेकिन उर्दू बोलनेवाले मुसलमान इसके एक चौथाई से अधिक न होंगे। ऐसी अवस्था में क्या उच्चकोटि की राष्ट्रीयता के विचार से इसकी आवश्यकता नहीं है कि उर्दू में कुछ आवश्यक सुधार और वृद्धि करके उसे हिन्दी के साथ मिला लिया जाय? और हिन्दी में भी इसी प्रकार की वृद्धि करके उसे उर्दू से मिला दिया जाय? और इस मिश्रित भाषा को इतना दृढ़ कर दिया जाय कि वह सारे भारतवर्ष में बोली-समझी जा सके? और हमारे लेखक जो कुछ लिखें, वह एक विशेष क्षेत्र के लिए न हो; बल्कि सारे भारतवर्ष के लिए हो? सिन्धी

भाषा इस प्रकार के मिश्रण का बहुत अच्छा उदाहरण है। सिन्धी भाषा की केवल लिपि अरबी है ; परंतु उसमें हिन्दी के सभी तत्त्व सम्मिलित कर लिये गये हैं। और शब्दों की दृष्टि से भी उसमें संस्कृत, अरबी और फ़ारसी का कुछ ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि कहीं खटक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तानी के लिए भी कुछ इसी प्रकार के सम्मिश्रण की आवश्यकता है।

जो लोग उर्दू और हिन्दी को बिल्कुल अलग-अलग रखना चाहते हैं, उनका यह कहना एक बहुत बड़ी सीमा तक ठीक है कि मिश्रित भाषा में क़िस्से-कहानियाँ और नाटक आदि तो लिखे जा सकते हैं, परं तु विज्ञान और साहित्य के उच्च विषय उसमें नहीं लिखे जा सकते। वहाँ तो विवश होकर फ़ारसी और अरबी के शब्दों से भरी हुई उर्दू और संस्कृत के शब्दों से भरी हुई हिन्दी का व्यवहार आवश्यक हो जायगा। विज्ञान और विद्या-सम्बन्धी विषय लिखने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की होती है। और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमें विवश होकर अरबी और संस्कृत के असीम शब्द-भाण्डारों से सहायता लेनी पड़ेगी। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय भाषा अपने लिए अलग-अलग पारिभाषिक शब्द तैयार कर रही है। उर्दू में भी विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द बनाये गये हैं और अभी यह क्रम चल रहा है। क्या यह बात कहीं अधिक उत्तम न होगी कि भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सभाएँ और संस्थाएँ आपस में मिलकर परामर्श करें और एक दूसरी की सहायता से यह कठिन कार्य पूरा करें ? इस समय सभी लोगों को अलग-अलग बहुत कुछ परिश्रम, माथापच्ची और व्यय करना पड़ रहा है और उसमें बहुत कुछ बचत हो सकती है। हमारी समझ में तो यह आता है कि नये सिरे से पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अँगरेज़ी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्त्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय। ये पारिभाषिक शब्द केवल अँगरेज़ी में ही प्रचलित नहीं हैं ; बल्कि प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में उनसे मिलते-

जुलते पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। कहते हैं कि जापानियों ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन किया है। और मिश्र में थोड़े बहुत सुधार और परिवर्तन के साथ उन्हीं को ग्रहण किया गया है। यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल सरीखे सैकड़ों विदेशी शब्द खप सकते हैं, तो फिर पारिभाषिक शब्दों को लेने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है? यदि प्रत्येक प्रान्त ने अपने अलग-अलग पारिभाषिक शब्द बना लिये तो फिर भारतवर्ष की कोई राष्ट्रीय विद्या और विज्ञान-सम्बन्धी भाषा न बन सकेगी। बँगला, मराठी, गुजराती और कन्नडी आदि भाषाएँ संस्कृत की सहायता से यह कठिनता दूर कर सकती हैं। उर्दू भी अरबी और फ़ारसी की सहायता से अपनी पारिभाषिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है। परन्तु हमारे लिए ऐसे शब्द प्रचलित अंगरेज़ी पारिभाषिक शब्दों से भी कहीं अधिक अपरिचित होंगे। 'आईन अकबरी' ने हिन्दू-दर्शन, संगीत और गणित के लिए संस्कृत के प्रचलित पारिभाषिक शब्द ग्रहण करके एक अच्छा उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इस्लामी दर्शन, धर्म-शास्त्र आदि में से हम प्रचलित अरबी पारिभाषिक शब्द ग्रहण कर सकते हैं। जो विद्याएँ पाश्चात्य देशों से अपने-अपने पारिभाषिक शब्द लेकर आई हैं, यदि उन्हें भी हम उन शब्दों के सहित ग्रहण कर लें तो यह बात हमारी ऐतिहासिक परम्परा से भिन्न न होगी।

यह कहा जा सकता है कि मिश्रित हिन्दुस्तानी उतनी सरस और कोमल न होगी। परन्तु सरसता और कोमलता का मान-दण्ड सदा बदलता रहता है। कई साल पहले अचकन पर अंगरेज़ी टोपी बेजोड़ और हास्यास्पद मालूम होती थी। लेकिन अब वह साधारणतः सभी जगह दिखाई देती है। स्त्रियों के लिए लम्बे-लम्बे सिर के बाल सौन्दर्य का एक विशेष स्तम्भ हैं; परन्तु आजकल तराशे हुए बाल प्रायः पसन्द किये जाते हैं। फिर किसी भाषा का मुख्य गुण उसकी सरसता ही नहीं है, बल्कि मुख्य गुण तो अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति है। यदि हम सरसता और कोमलता की कुरबानी करके भी अपनी राष्ट्रीय

भाषा का क्षेत्र विस्तृत कर सकें तो हमें इसमें संकोच नहीं होना चाहिये। जब कि हमारे राजनीतिक संसार में एक फेडरेशन या संघ की नींव डाली जा रही है, तब क्यों न हम साहित्यिक संसार में भी एक फेडरेशन या संघ की स्थापना करें जिसमें हर एक प्रान्तीय भाषा के प्रतिनिधि साल में एक बार एक सप्ताह के लिए किसी केन्द्र में एकत्र होकर राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न पर विचार-विनिमय करें और अनुभव के प्रकाश में सामने आनेवाली समस्याओं की मीमांसा करें ? जब हमारे जीवन की प्रत्येक बात और प्रत्येक अंग में परिवर्तन हो रहे हैं और प्रायः हमारी इच्छा के विरुद्ध भी परिवर्तन हो रहे हैं, तो फिर भाषा के विषय में हम क्यों सौ वर्ष पहले के विचारों और दृष्टिकोणों पर अड़े रहें ? अब वह अवसर आ गया है कि अखिल भारतीय हिन्दुस्तानी भाषा और साहित्य की एक सभा या संस्था स्थापित की जाय जिसका काम ऐसी हिन्दुस्तानी भाषा की सृष्टि करना हो जो प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हो सके। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इस सभा या संस्था के कर्त्तव्य और उद्देश्य क्या होंगे। इसी सभा या संस्था का यह काम होगा कि वह अपना कार्य-क्रम तैयार करे। हमारा तो यही निवेदन है कि अब इस काम में ज्यादा देर करने की गुञ्जाइश नहीं है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्याएँ

प्यारे मित्रो,

आपने मुझे जो यह सम्मान दिया है, उसके लिए मैं आपको सौ ज़बानों से धन्यवाद देना चाहता हूँ; क्योंकि आपने मुझे वह चीज़ दी है, जिसके मैं बिलकुल अयोग्य हूँ। न मैंने हिन्दी-साहित्य पढ़ा है, न उसका इतिहास पढ़ा है, न उसके विकासक्रम के बारे में ही कुछ जानता हूँ। ऐसा आदमी इतना मान पाकर फूला न समाय, तो वह आदमी नहीं है। नेवता पाकर मैंने उसे तुरन्त स्वीकार किया। लोगों में 'मन भाए और मुँड़िया हिलाए' की जो आदत होती है, वह खतरा मैं न लेना चाहता था। यह मेरी ढिठाई है कि मैं यहाँ वह काम करने खड़ा हुआ हूँ, जिसकी मुझ में लियाक़त नहीं है; लेकिन इस तरह की गंदुम-नुमाई का मैं अकेला मुजरिम नहीं हूँ। मेरे भाई घर-घर में, गली-गली में मिलेंगे। आपको तो अपने नेवते की लाज रखनी है। मैं जो कुछ अनाप-शनाप बकूँ, उसकी खूब तारीफ़ कीजिये, उसमें जो अर्थ न हो वह पैदा कीजिये, उसमें अध्यात्म के और साहित्य के तत्त्व खोज निकालिये — जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ !

आपकी सभा ने पन्द्रह-सोलह साल के मुख्तसर-से समय में जो काम कर दिखलाया है, उस पर मैं आपको बधाई देता हूँ, खासकर इसलिए कि आपने अपनी ही कोशिशों से यह नतीजा हासिल किया है। सरकारी इमदाद का मुँह नहीं ताका। यह आपके हौसलों की बलन्दी की एक मिसाल है। अगर मैं यह कहूँ कि आप भारत के दिमाग़ हैं, तो वह मुबालग़ा न होगा। किसी अन्य प्रान्त में इतना अच्छा संगठन हो सकता है और इतने अच्छे कार्यकर्त्ता मिल सकते हैं, इसमें मुझे सन्देह है। जिन दिमाग़ों ने अँग्रेज़ी राज्य की जड़ जमाई, जिन्होंने अंग्रेज़ी भाषा का सिक्का जमाया, जो अंग्रेज़ी आचार-विचार में भारत

में अग्रगण्य थे और हैं, वे लोग राष्ट्र-भाषा के उत्थान पर कमर बाँध लें, तो क्या कुछ नहीं कर सकते ? और यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि जिन दिमाग़ों ने एक दिन विदेशी भाषा में निपुण होना अपना ध्येय बनाया था, वे आज राष्ट्र-भाषा का उद्धार करने पर कमर कसे नज़र आते हैं, और जहाँ से मानसिक पराधीनता की लहर उठी थी, वहाँ से राष्ट्रीयता की तरंगें उठ रही हैं। जिन लोगों ने अंग्रेज़ी लिखने और बोलने में अंग्रेज़ों को भी मात कर दिया, यहाँ तक कि आज जहाँ कहीं देखिये अंग्रेज़ी पत्रों के सम्पादक इसी प्रान्त के विद्वान् मिलेंगे, वे अगर चाहें तो हिन्दी बोलने और लिखने में हिन्दीवालों को भी मात कर सकते हैं। और गत वर्ष यात्रीदल के नेताओं के भाषाण सुनकर मुझे यह स्वीकार करना पड़ता है कि वह क्रिया शुरू हो गई है। 'हिन्दी-प्रचारक' में अधिकांश लेख आप लोगों ही के लिखे होते हैं और उनकी मँजी हुई भाषा और सफ़ाई और प्रवाह पर हममें से बहुतों को रश्क आता है। और यह तब है; जब राष्ट्र-भाषा-प्रेम अभी दिलों के ऊपरी भाग तक ही पहुँचा है, और आज भी यह प्रान्त अंग्रेज़ी भाषा के प्रभुत्व से मुक्त होना नहीं चाहता। जब यह प्रेम दिलों में व्याप्त हो जायगा, उस वक्त उसकी गति कितनी तेज़ होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है ? हमारी पराधीनता का सबसे अपमानजनक, सबसे व्यापक, सबसे कठोर अंग अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व है। कहीं भी वह इतने नंगे रूप में नहीं नज़र आती। सभ्य जीवन के हर एक विभाग में अंग्रेज़ी भाषा ही मानो हमारी छाती पर मूँग दल रही है। अगर आज इस प्रभुत्व को हम तोड़ सके, तो पराधीनता का आधा बोझ हमारी गर्दन से उतर जायगा। कैदी को बेड़ी से जितनी तकलीफ़ होती है, उतनी और किसी बात से नहीं होती। कैदख़ाना शायद उसके घर से ज्यादा हवादार, साफ़-सुथरा होगा। भोजन भी वहाँ शायद घर के भोजन से अच्छा और स्वादिष्ट मिलता हो। बाल-बच्चों से वह कभी-कभी स्वेच्छा से बरसों अलग रहता है। उसके दण्ड की याद दिलानेवाली चीज़ यही बेड़ी है, जो उठते-बैठते, सोते-जागते,

हँसते-बोलते, कभी उसका साथ नहीं छोड़ती, कभी उसे मिथ्या कल्पना भी करने नहीं देती, कि वह आज़ाद है। पैरों से कहीं ज्यादा उसका असर कैदी के दिल पर होता है, जो कभी उभरने नहीं पाता, कभी मन की मिठाई भी नहीं खाने पाता। अंग्रेज़ी भाषा हमारी पराधीनता की वही बेड़ी है, जिसने हमारे मन और बुद्धि को ऐसा जकड़ रखा है कि उनमें इच्छा भी नहीं रही। हमारा शिक्षित समाज इस बेड़ी को गले का हार समझने पर मजबूर है। यह उसकी रोटियों का सवाल है। और अगर रोटियों के साथ कुछ सम्मान, कुछ गौरव, कुछ अधिकार भी मिल जाय, तो क्या कहना! प्रभुता की इच्छा तो प्राणी-मात्र में होती है; अँग्रेज़ी भाषा ने इसका द्वार खोल दिया और हमारा शिक्षित समुदाय चिड़ियों के झुण्ड की तरह उस द्वार के अन्दर घुसकर ज़मीन पर बिखरे हुए दाने चुगने लगा और अब कितना ही फड़फड़ाये, उसे गुलशन की हवा नसीब नहीं। मज़ा यह है कि इस झुण्ड की फड़फड़ाहट बाहर निकलने के लिए नहीं, केवल ज़रा मनोरंजन के लिए है। उसके पर निर्जीव हो गये, और उनमें उड़ने की शक्ति नहीं रही, वह भरोसा भी नहीं रहा कि यह दाने बाहर मिलेंगे भी या नहीं। अब तो वही कफ़स है, वही कुल्हिया है और वही सैयाद।

लेकिन मित्रो, विदेशी भाषा सीखकर अपने ग़रीब भाइयों पर रोब जमाने के दिन बड़ी तेजी से बिदा होते जा रहे हैं, प्रतिभा का और बुद्धिबल का जो दुरुपयोग हम सदियों से करते आये हैं, जिसके बल पर हमने अपनी एक अमीरशाही स्थापित कर ली है, और अपने को साधारण जनता से अलग कर लिया है, वह अवस्था अब बदलती जा रही है। बुद्धि-बल ईश्वर की देन है, और उसका धर्म प्रजा पर धौंस जमाना नहीं, उसका खून चूसना नहीं, उसकी सेवा करना है। आज शिक्षित समुदाय पर से जनता का विश्वास उठ गया है। वह उसे उससे अधिक विदेशी समझती है, जितनी विदेशियों को। क्या कोई आश्चर्य है कि यह समुदाय आज दोनों तरफ़ से ठोकरें खा रहा है? स्वामियों की ओर से इसलिए कि वह समझते हैं—मेरी चौखट के सिवा इनके

लिए और कोई आश्रय नहीं, और जनता की ओर से इसलिए कि उनका इससे कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। उनका रहन-सहन, उनकी बोल-चाल, उनकी वेष-भूषा, उनके विचार और व्यवहार सब जनता से अलग हैं और यह केवल इसलिए कि हम अंग्रेज़ी भाषा के गुलाम हो गये। मानो परिस्थिति ऐसी है कि बिना अंग्रेजी भाषा की उपासना किये काम नहीं चल सकता; लेकिन अब तो इतने दिनों के तजरबे के बाद मालूम हो जाना चाहिए कि इस नाव पर बैठकर हम पार नहीं लग सकते, फिर हम क्यों आज भी उसी से चिमटे हुए हैं? अभी गत वर्ष एक इंटर-युनिवर्सिटी कमीशन बैठा था कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करे। उसमें एक प्रस्ताव यह भी था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी की जगह पर मातृ-भाषा क्यों न रखा जाय। बहुमत ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, क्यों? इसलिये कि अंग्रेज़ी माध्यम के बग़ैर अंग्रेज़ी में हमारे बच्चे कच्चे रह जायँगे और अच्छी अंग्रेज़ी लिखने और बोलने में समर्थ न होंगे; मगर इन डेढ़ सौ वर्षों की घोर तपस्या के बाद आज तक भारत ने एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसका इंगलैण्ड में उतना भी मान होता, जितना एक तीसरे दर्जे के अंग्रेज़ी लेखक का होता है। याद नहीं, पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने कहा था, या सर तेजबहादुर सप्रू ने, कि पचास साल तक अंग्रेजी से सिर मारने के बाद आज भी उन्हें अंग्रेज़ी से बोलते वक्त यह संशय होता रहता है कि कहीं उनसे ग़लती तो नहीं हो गई! हम आँखें फोड़-फोड़कर और कमर तोड़-तोड़कर और रक्त जला-जलाकर अंग्रेज़ी का अभ्यास करते हैं, उसके मुहावरे रटते हैं, लेकिन बड़े-से-बड़े भारती-साधक की रचना विद्यार्थियों की स्कूली एक्सरसाइज़ से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखती। अभी दो-तीन दिन हुए पंजाब के ग्रेजुएटों की अंग्रेज़ी योग्यता पर वहाँ के परीक्षकों ने यह आलोचना की है कि अधिकांश छात्रों में अपने विचारों के प्रकट करने की शक्ति नहीं है, बहुत तो स्पेलिंग में ग़लतियाँ करते हैं। और यह नतीजा है कम-से-कम १२ साल तक आँखें फोड़ने का। फिर भी हमारे लिए शिक्षा का

अंग्रेज़ी माध्यम ज़रूरी है, यह हमारे विद्वानों की राय है। जापान और चीन और ईरान में तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी नहीं है। फिर भी वे सभ्यता की हरेक बात में हमसे कोसों आगे हैं; लेकिन अंग्रेज़ी माध्यम के बग़ैर हमारी नाव डूब जायगी। हामरे मारवाड़ी भाई हमारे धन्यवाद के पात्र हैं कि कम-से-कम जहाँ तक व्यापार में उनका संबंध है, उन्होंने क़ौमियत की रक्षा की है।

मित्रो, शायद मैं अपने विषय से बहक गया हूँ; लेकिन मेरा आशय केवल यह है कि हमें मालूम हो जाय, हमारे सामने कितना महान् काम है। यह समझ लीजिये कि जिस दिन आप अंग्रेज़ी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और अपनी एक क़ौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायँगे। मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बन्धन है, जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रहती है, और उसका शीराज़ा बिखरने नहीं देती। जिस वक्त अंग्रेज़ आये, भारत की राष्ट्र-भावना लुप्त हो चुकी थी। यों कहिये कि उसमें राजनैतिक चेतना की गंध तक न रह गई थी। अंग्रेजी राज ने आकर आपको एक राष्ट्र बना दिया। आज अंग्रेज़ी राज बिदा हो जाय—और एक-न-एक दिन तो यह होना ही है—तो फिर आपका यह राष्ट्र कहाँ जायगा? क्या यह बहुत संभव नहीं है कि एक-एक प्रान्त एक-एक राज्य हो जाय और फिर वही विच्छेद शुरू हो जाय? वर्तमान दशा में तो हमारी क़ौमी चेतना को सजग और सजीव रखने के लिए अंग्रेज़ी राज को अमर रहना चाहिये। अगर हम एक राष्ट्र बनकर अपने स्वराज्य के लिये उद्योग करना चाहते हैं तो हमें राष्ट्र-भाषा का आश्रय लेना होगा और उसी राष्ट्र-भाषा के बख्तर से हम अपने राष्ट्र की रक्षा कर सकेंगे। आप उसी राष्ट्र-भाषा के भिक्षु हैं, और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। सोचिये, आप कितना महान् काम करने जा रहे हैं। आप क़ानूनी बाल की ख़ाल निकालनेवाले वकील नहीं बना रहे

हैं, आप शासन-मिल के मज़दूर नहीं बना रहे हैं, आप एक बिखरी हुई क़ौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बन्धुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं। इस काम की पवित्रता और गौरव को देखते हुए, कोई ऐसा कष्ट नहीं है, जिसका आप स्वागत न कर सकें। यह धन का मार्ग नहीं है, संभव है कि कीर्ति का मार्ग भी न हो, लेकिन आपके आत्मिक संतोष के लिए इससे बेहतर काम नहीं हो सकता। यही आपके बलिदान का मूल्य है। मुझे आशा है, यह आदर्श हमेशा आपके सामने रहेगा। आदर्श का महत्त्व आप खूब समझते हैं। वह हमारे रुकते हुए क़दम को आगे बढ़ाता है, हमारे दिलों से संशय और संदेह की छाया को मिटाता है और कठिनाइयों में हमें साहस देता है।

राष्ट्रभाषा से हमारा क्या आशय है, इसके विषय में भी मैं आपसे दो शब्द कहूँगा। इसे हिन्दी कहिये, हिन्दुस्तानी कहिये, या उर्दू कहिए, चीज़ एक है। नाम से हमारी कोई बहस नहीं। ईश्वर भी वही है, जो ख़ुदा है, और राष्ट्र भाषा में दोनों के लिए समान रूप से सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। अगर हमारे देश में ऐसे लोगों की काफी तादाद निकल आये, जो ईश्वर को 'गाड' कहते हैं, तो राष्ट्र-भाषा उनका भी स्वागत करेगी। जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। 'शुद्ध हिन्दी' तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, फ़ारसी, अफ़गानी सभी जातियाँ मौजूद हैं, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनाई जा सकती है। उसका अङ्ग-भङ्ग करके उसका काया-कल्प करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी, यह असम्भव है, हास्यास्पद है। हमारे देखते-देखते सैकड़ों विदेशी शब्द भाषा में आ घुसे, हम उन्हें रोक नहीं सकते। उनका आक्रमण रोकने की चेष्टा ही व्यर्थ है। वह भाषा के विकास में बाधक होगी। वृक्षों को सीधा

और सुडौल बनाने के लिए पौधों को एक थूनी का सहारा दिया जाता है। आप विद्वानों का ऐसा नियन्त्रण रख सकते हैं कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण, कर्णकटु, भद्दे शब्द व्यवहार में न आ सकें; पर यह नियंत्रण केवल पुस्तकों पर हो सकता है। बोल-चाल पर किसी प्रकार का नियंत्रण रखना मुश्किल होगा; मगर विद्वानों का भी अजीब दिमाग़ है। प्रयाग में विद्वानों और पण्डितों की सभा 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में तिमाही, सेहमाही और त्रैमासिक शब्दों पर बरसों से मुबाहसा हो रहा है और अभी तक फ़ैसला नहीं हुआ। उर्दू के हामी 'सेहमाही' की ओर हैं, हिन्दी के हामी 'त्रैमासिक' की ओर, बेचारा 'तिमाही' जो सबसे सरल, आसानी से बोला और समझा जानेवाला शब्द है, उसका दोनों ही ओर से बहिष्कार हो रहा है। भाषा-सुन्दरी को कोठरी में बन्द करके आप उसका सतीत्व तो बचा सकते हैं, लेकिन उसके जीवन का मूल्य देकर। उसकी आत्मा स्वयं इतनी बलवान बनाइये, कि वह अपने सतीत्व और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा कर सके। बेशक हमें ऐसे ग्रामीण शब्दों को दूर रखना होगा, जो किसी ख़ास इलाके में बोले जाते हैं। हमारा आदर्श तो यह होना चाहिये, कि हमारी भाषा अधिक-से-अधिक आदमी समझ सकें; अगर इस आदर्श को हम अपने सामने रखें, तो लिखते समय भी हम शब्द-चातुरी के मोह में न पड़ेंगे। यह ग़लत है, कि फ़ारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनका अर्थ निकलना पण्डितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है, जो व्यवहार में आ रहा है, इसमें कोई बहस नहीं कि वह तुर्की है, या अरबी, या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया-डाह है यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर एक समुदाय के लोगों को 'उर्दू' नाम प्रिय है तो उन्हें उसका इस्तेमाल करने दीजिये। जिन्हें 'हिन्दी' नाम से प्रेम है वह हिन्दी ही कहें। इसमें लड़ाई काहे की? एक चीज़ के दो नाम देकर ख़्वामख़्वाह आपस में लड़ना और उसे इतना महत्त्व दे देना कि वह राष्ट्र की एकता

में बाधक हो जाय, यह मनोवृत्ति रोगी और दुर्बल मन की है। मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ, कि उर्दू को राष्ट्र-भाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है, जो क़ौमियत के मतवाले हैं। कट्टर-पन्थियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुस्लिम संस्कृति का कैम्प आज अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फ़ारसी के प्रोफ़ेसरों और अन्य विषयों के प्रोफ़ेसरों से मेरी जो बात-चीत हुई, उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेज़ार हैं, जितने पण्डिताऊ भाषा से, और कौमी-भाषा-संघ आन्दोलन में शरीक होने के लिए दिल से तैयार हैं। मैं यह भी मान लेता हूँ कि मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है—हालाँकि उस गिरोह का ज़ोर और असर दिन-दिन कम होता जा रहा है—और वह अपनी भाषा को अरबी से गले तक ठूँस देना चाहता है, तो हम उससे क्यों झगड़ा करें? क्या आप समझते हैं, ऐसी जटिल भाषा मुसलिम जनता में भी प्रिय हो सकती है? कभी नहीं। मुसलमानों में वही लेखक सर्वोपरि हैं, जो आमफ़हम भाषा लिखते हैं। मौलवियाऊ भाषा लिखने-वालों के लिए वहाँ भी स्थान नहीं है। मुसलमान दोस्तों से भी मुझे कुछ अर्ज़ करने का हक़ है; क्योंकि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुज़रा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ, उतनी हिन्दी नहीं लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फ़ारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है, उतनी हिन्दी नहीं है। मैं पूछता हूँ, आप हिन्दी को क्यों गरदनज़दनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है, और नहीं है, तो होना चाहिये, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर, जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया (व्यावहारिक बीज सदियों पहले पड़ चुका था) वह अमीर खुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम-से-कम पाँच सौ मुसलमान शायरो ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है, जिनमें कई तो चोटी

के शायर हैं? क्या आपको मालूम है, अकबर और जहाँगीर और औरङ्गज़ेब तक हिन्दी कविता का ज़ौक रखते थे और औरङ्गज़ेब ने हो आमों के नाम 'रसना-विलास' और 'सुधारस' रखे थे? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफ़ीज़ जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबाआज़माई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हज़ारों शब्द, हज़ारों क्रियाएँ अरबी और फ़ारसी से आई हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गई हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं, तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइन्साफ़ी करते हैं। उर्दू शब्द कब और कहाँ उत्पन्न हुआ, इसकी कोई तारीख़ी सनद नहीं मिलती। क्या आप समझते हैं वह 'बड़ा ख़राब आदमी है' और वह 'बड़ा दुर्जन मनुष्य है' दो अलग भाषाएँ हैं? हिन्दुओं को 'ख़राब' भी अच्छा लगता है, और 'आदमी' तो अपना भाई ही है। फिर मुसलमान को 'दुर्जन' क्यों बुरा लगे, और 'मनुष्य' क्यों शत्रु-सा दीखे? हमारी क़ौमी भाषा में दुर्जन और सज्जन, उम्दा और ख़राब दोनों के लिए स्थान है, वहाँ तक, जहाँ तक कि उसकी सुबोधता में बाधा नहीं पड़ती। इसके आगे हम न उर्दू के दोस्त हैं, न हिन्दी के। मज़ा यह कि 'हिन्दी' मुसलमानों का दिया हुआ नाम है और अभी ५० साल पहले तक जिसे आज उर्दू कहा जा रहा है, उसे मुसलमान भी हिन्दी कहते थे। और आज 'हिन्दी' मरदूद है। क्या आपको नज़र नहीं आता, कि 'हिन्दी' एक स्वाभाविक नाम है? इङ्गलैण्डवाले इङ्गलिश बोलते हैं, फ्रांसवाले फ्रेंच, जर्मनीवाले जर्मन, फ़ारसवाले फ़ारसी, तुर्कीवाले तुर्की, अरबवाले अरबी, फिर हिन्दवाले क्यों न हिन्दी बोलें? उर्दू तो न क़ाफ़िये में आती है, न रदीफ़ में, न बहर में, न वज़न में। हाँ, हिन्दुस्तान का नाम उर्दूस्तान रखा जाय, तो बेशक यहाँ की क़ौमी भाषा उर्दू होगी। क़ौमी भाषा के उपासक नामों से बहस नहीं करते, वह तो असलियत से बहस करते हैं। क्यों दोनों भाषाओं का दोष एक नहीं हो जाता? हमें दोनों ही भाषाओं में एक आम लुग़त (कोष)

की ज़रूरत है, जिसमें आमफ़हम शब्द जमा कर दिये जायँ। हिन्दी में तो मेरे मित्र पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने किसी हद तक यह ज़रूरत पूरी कर दी है। इस तरह का एक लुग़त उर्दू में भी होना चाहिये। शायद वह काम क़ौमी-भाषा-संघ बनने तक मुल्तवी रहेगा। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आम-फ़हम शब्दों से भी परहेज़ करते हैं; हालाँकि हिन्दी में आमफ़हम फ़ारसी के शब्द आज़ादी से व्यवहार किये जाते हैं।

लेकिन, प्रश्न उठता है कि राष्ट्र-भाषा कहाँ तक हमारी ज़रूरतें पूरी कर सकती है? उपन्यास, कहानियाँ, यात्रावृत्तान्त, समाचार-पत्रों के लेख, आलोचना अगर बहुत गूढ़ न हो, यह सब तो राष्ट्र-भाषा में अभ्यास कर लेने से लिखे जा सकते हैं; लेकिन साहित्य में केवल इतने ही विषय तो नहीं हैं। दर्शन और विज्ञान की अनन्त शाखाएँ भी तो हैं, जिनको आप राष्ट्र-भाषा में नहीं ला सकते। साधारण बातें तो साधारण और सरल शब्दों में लिखी जा सकती हैं। विवेचनात्मक विषयों में यहाँ तक कि उपन्यास में भी जब वह मनोवैज्ञानिक हो जाता है, आपको मजबूर होकर संस्कृत या अरबी-फारसी शब्दों की शरण लेनी पड़ती है। अगर हमारी राष्ट्र-भाषा सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, और उसमें आप हर एक विषय, हर एक भाव नहीं प्रकट कर सकते, तो उसमें यह बड़ा भारी दोष है, और यह हम सभी का कर्तव्य है कि हम राष्ट्र भाषा को उसी तरह सर्वाङ्गपूर्ण बनावें, जैसी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाएँ हैं। यों तो अभी हिन्दी और उर्दू अपने थक रूप में भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण क्या, अधूरी भी नहीं है। जो राष्ट्रा-भाषा लिखने का अनुभव रखते हैं, उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि एक-एक भाव के लिए उन्हें कितना सिर-मग़ज़न करना पड़ता है। सरल शब्द मिलते ही नहीं, मिलते हैं, तो भाषा में खपते नहीं, भाषा का रूप बिगाड़ देते हैं, खीर में नमक के डले की भाँति आकर मज़ा किरकिरा कर देते हैं। इसका कारण तो स्पष्ट ही है कि हमारी जनता में भाषा का ज्ञान बहुत ही थोड़ा है और आमफ़हम शब्दों की

संख्या बहुत ही कम है। जब तक जनता में शिक्षा का अच्छा प्रचार नहीं हो जाता, उनकी व्यावहारिक शब्दावली बढ़ नहीं जाती, हम उनके समझने के लायक भाषा में तात्विक विवेचनाएँ नहीं कर सकते। हमारी हिन्दी भाषा ही अभी सौ बरस की नहीं हुई, राष्ट्र-भाषा तो अभी शैशवावस्था में है, और फ़िलहाल यदि हम उसमें सरल साहित्य ही लिख सकें, तो हमको संतुष्ट होना चाहिये। इसके साथ ही हमें राष्ट्र-भाषा का कोष बढ़ाते रहना चाहिये। वही संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्द, जिन्हें देखकर आज हम भयभीत हो जाते हैं, जब अभ्यास में आ जायँगे, तो उनका हौआपन जाता रहेगा। इस भाषा विस्तार की क्रिया, धीरे-धीरे ही होगी। इसके साथ हमें विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे विद्वानों का एक बोर्ड बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत के क़ायल हैं। उस बोर्ड में उर्दू, हिन्दी, बँगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रखे जायँ और इस क्रिया को सुव्यवस्थित करने और उसकी गति को तेज़ करने का काम उनको सौंपा जाय। अभी तक हमने अपने मनमाने ढंग से इस आन्दोलन को चलाया है। औरों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न नहीं किया। आपका यात्री-मंडल भी हिन्दी के विद्वानों तक ही रह गया। मुसलिम केन्द्रों में जाकर मुसलिम विद्वानों की हमदर्दी हासिल करने की उसने कोशिश नहीं की। हमारे विद्वान् लोग तो अँगरेज़ी में मस्त हैं। जनता के पैसे से दर्शन और विज्ञान और सारी दुनिया की विद्याएँ सीखकर भी वे जनता की तरफ़ से आँखें बन्द किये बैठे हैं। उनकी दुनिया अलग है, उन्होंने उपजीवियों की मनोवृत्ति पैदा कर ली है। काश उनमें भी राष्ट्रीय चेतना होती, काश वे भी जनता के प्रति अपने कर्तव्य को महसूस करते, तो शायद हमारा काम सरल हो जाता। जिस देश में जन-शिक्षा की सतह इतनी नीची हो, उसमें अगर कुछ लोग अँगरेज़ी में अपनी विद्वत्ता का सेहरा बाँध ही लें तो क्या? हम तो तब जानें, जब विद्वत्ता के साथ-साथ दूसरों को भी ऊँची सतह पर उठाने का भाव मौजूद हो। भारत में केवल अँग्रेज़ीदाँ ही नहीं रहते। हज़ार में ९९९ आदमी

अंग्रेज़ी का अक्षर भी नहीं जानते। जिस देश का दिमाग़ विदेशी भाषा में सोचे और लिखे, उस देश को अगर संसार राष्ट्र नहीं समझता तो क्या वह अन्याय करता है ? जब तक आपके पास राष्ट्र-भाषा नहीं, आपका राष्ट्र भी नहीं। दोनों में कारण और कार्य का सम्बन्ध है। राजनीति के माहिर अंग्रेज़ शासकों को आप राष्ट्र की हाँक लगाकर धोखा नहीं दे सकते। वे आपकी पोल जानते हैं और आपके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं।

अब हमें यह विचार करना है कि राष्ट्र-भाषा का प्रचार कैसे बढ़े। अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि हमारे नेताओं ने इस तरफ़ मुजरिमाना ग़फ़लत दिखाई है। वे अभी तक इसी भ्रम में पड़े हुए हैं कि यह कोई बहुत छोटा-मोटा विषय है, जो छोटे-मोटे आदमियों के करने का है, और उनके जैसे बड़े-बड़े आदमियों को इतनी कहाँ फ़ुरसत कि वह झंझट में पड़ें। उन्होंने अभी तक इस काम का महत्त्व नहीं समझा, नहीं तो शायद यह उनके प्रोग्राम की पहली पाँती में होता। मेरे विचार में जब तक राष्ट्र में इतना संगठन, इतना ऐक्य, इतना एकात्मपन न होगा कि वह एक भाषा में बात कर सके, तब तक उसमें यह शक्ति भी न होगी कि स्वराज्य प्राप्त कर सके। ग़ैरमुमकिन है। जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो एलेक्शनों में खड़े होते हैं और फ़तह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हज़रत इस तरह के एक सौ एलेक्शन आयँगे और निकल जायँगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे; लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेज़ी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें; लेकिन आपकी आवाज़ में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है। बच्चों के रोने पर खिलौने और मिठाइयाँ मिलती हैं। वह शायद आपको भी मिल जावें, जिसमें आपकी चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े। इस काम को तुच्छ न समझिये। यही बुनियाद है, आपका अच्छे-से-अच्छा गारा, मसाला, सीमेंट और बड़ी-से-बड़ी निर्माण-योग्यता जब तक यहाँ

ख़र्च न होगी, आपकी इमारत न बनेगी। घिरौंदा शायद बन जाय, जो एक हवा के झोंके में उड़ जायगा। दरअसल अभी हमने जो कुछ किया है, वह नहीं के बराबर है। एक अच्छा-सा राष्ट्र-भाषा का विद्यालय तो हम खोल नहीं सके। हर साल सैकड़ों स्कूल खुलते हैं, जिनकी मुल्क को बिल्कुल ज़रूरत नहीं। 'उसमानिया विश्व-विद्यालय' काम की चीज़ है, अगर वह उर्दू और हिन्दी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्व विद्यालयों पर तरज़ीह देता हूँ। कम-से-कम अँग्रेज़ी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया। और हमारे जितने विद्यालय हैं सभी गुलामी के कारख़ाने हैं, जो लड़कों को स्वार्थ का, ज़रूरतों का, नुमाइश का, अकर्मण्यता का गुलाम बनाकर छोड़ देते हैं और लुत्फ़ यह है, कि यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है। इस शिक्षा की बाज़ारी कीमत शून्य के बराबर है, फिर भी हम क्यों भेड़ों की तरह उसके पीछे दौड़े चले जा रहे हैं ? अँग्रेज़ी शिक्षा हम शिष्टता के लिए नहीं ग्रहण करते। इसका उद्देश्य उदर है। शिष्टता के लिए हमें अँग्रेज़ी के सामने हाथ फैलाने की ज़रूरत नहीं। शिष्टता हमारी मीरास है, शिष्टता हमारी घुट्टी में पड़ी है। हम तो कहेंगे, हम ज़रूरत से ज़्यादा शिष्ट हैं। हमारी शिष्टता दुर्बलता की हद तक पहुँच गई है। पच्छिमी शिष्टता में जो कुछ है, वह उद्योग और पुरुषार्थ है। हमने यह चीज़ें तो उसमें से छाँटी नहीं। छाँटा क्या, लोफ़रपन, अहंकार, स्वार्थान्धता, बेशर्मी, शराब और दुर्व्यसन। एक मूर्ख किसान के पास जाइये। कितना नम्र, कितना मेहमाँनवाज़, कितना ईमानदार, कितना विश्वासी। उसी का भाई टामी है, पच्छिमी शिष्टता का सच्चा नमूना, शराबी, लोफ़र, गुण्डा, अक्खड़, हया से ख़ाली। शिष्टता सीखने के लिए हमें अँग्रेज़ी की गुलामी करने की ज़रूरत नहीं। हमारे पास ऐसे विद्यालय होने चाहियें, जहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा राष्ट्र-भाषा में सुगमता से मिल सके। इस वक्त अगर ज़्यादा नहीं तो एक तो ऐसा विद्यालय किसी केन्द्र-स्थान में होना ही चाहिये ; मगर हम आज भी वही भेड़-चाल चले जा रहे हैं, वही

स्कूल, वही पढ़ाई। कोई भला आदमी ऐसा पैदा नहीं होता, जो एक राष्ट्र-भाषा का विद्यालय खोले। मेरे सामने दक्खिन से बीसों विद्यार्थी भाषा पढ़ने के लिए काशी गये ; पर वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं। वही हाल अन्य स्थानों में भी है। बेचारे इधर-उधर ठोकरें खाकर लौट आये। अब कुछ विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध हुआ है ; मगर जो काम हमें करना है, उसके देखते नहीं के बराबर है। प्रचार के और तरीकों में अच्छे ड्रामों का खेलना अच्छे नतीजे पैदा कर सकता है। इस विषय में हमारा सिनेमा प्रशंसनीय काम कर रहा है, हालाँकि उसके द्वारा जो कुरुचि, जो गन्दापन, जो विलास-प्रेम, जो कुवासना फैलाई जा रही है, वह इस काम के महत्त्व को मिट्टी में मिला देती है। अगर हम अच्छे भावपूर्ण ड्रामे स्टेज कर सकें, तो उससे अवश्य प्रचार बढ़ेगा। हमें सच्चे मिशनरियों की ज़रूरत है और आपके ऊपर इस मिशन का दायित्व है। बड़ी मुश्किल यह है कि जब तक किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई न दे, कोई उसके पीछे क्यों अपना समय नष्ट करे ? अगर हमारे नेता और विद्वान्, जो राष्ट्र-भाषा के महत्त्व से बेख़बर नहीं हो सकते, राष्ट्र-भाषा का व्यवहार कर सकते तो जनता में उस भाषा की ओर विशेष आकर्षण होता। मगर, यहाँ तो अँग्रेज़ियत का नशा सवार है। प्रचार का एक और साधन है कि भारत के अँग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के पत्रों को हम इस पर अमादा कर सकें कि वे अपने पत्र के एक-दो कॉलम नियमित रूप से राष्ट्र-भाषा के लिए दे सकें। अगर हमारी प्रार्थना वे स्वीकार करें, तो उससे भी बहुत फ़ायदा हो सकता है। हम तो उस दिन का स्वप्न देख रहे हैं, जब राष्ट्र-भाषा पूर्ण रूप से अँग्रेज़ी का स्थान ले लेगी, जब हमारे विद्वान राष्ट्र भाषा में अपनी रचनाएँ करेंगे, जब मद्रास और मैसूर, ढाका और पूना सभी स्थानों से राष्ट्र-भाषा के उत्तम ग्रन्थ निकलेंगे, उत्तम पत्र प्रकाशित होंगे और भू-मण्डल की भाषाओं और साहित्यों की मजलिस में हिन्दुस्तानी साहित्य और भाषा को भी गौरव का स्थान मिलेगा, जब हम मँगनी के सुन्दर कलेवर में नहीं, अपने फटे वस्त्रों में ही सही, संसार-

साहित्य में प्रवेश करेंगे। यह स्वप्न पूरा होगा या अन्धकार में विलीन हो जायगा, इसका फ़ैसला हमारी राष्ट्रभावना के हाथ है। अगर हमारे हृदय में वह बीज पड़ गया है, तो हमारी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति से फले-फूलेगा। अगर केवल जिह्वा तक ही है, तो सूख जायगा।

हिन्दी और उर्दू-साहित्य की विवेचना का यह अवसर नहीं है, और करना भी चाहें, तो समय नहीं। हमारा नया साहित्य अन्य प्रांतीय साहित्यों की भाँति ही अभी सम्पन्न नहीं है। अगर सभी प्रांतों का साहित्य हिन्दी में आ सके, तो शायद वह सम्पन्न कहा जा सके। बँगला साहित्य से तो हमने उसके प्रायः सारे रत्न ले लिये हैं और गुजराती, मराठी साहित्य से भी थोड़ी-बहुत सामग्री हमने ली है। तमिल, तेलगु आदि भाषाओं से अभी हम कुछ नहीं ले सके; पर आशा करते हैं कि शीघ्र ही हम इस ख़ज़ाने पर हाथ बढ़ायेंगे, बशर्ते कि घर के भेदियों ने हमारी सहायता की। हमारा प्राचीन साहित्य सारे का सारा काव्यमय है, और यद्यपि उसमें श्रृंगार और भक्ति की मात्रा ही अधिक है, फिर भी बहुत कुछ पढ़ने योग्य है। भक्त कवियों की रचनाएँ देखनी हैं, तो तुलसी और सूर और मीरा आदि का अध्ययन कीजिये, ज्ञान में कबीर अपना सानी नहीं रखता और श्रृंगार तो इतना अधिक है कि उसने एक प्रकार से हमारी पुरानी कविता को कलंकित कर दिया है। मगर, वह उन कवियों का दोष नहीं, परिस्थितियों का दोष है जिनके अन्दर उन कवियों को रहना पड़ा। उस ज़माने में कला दरबारों के आश्रय से जीती थी और कलाविदों को अपने स्वामियों की रुचि का ही लिहाज़ करना पड़ता था। उर्दू कवियों का भी यही हाल है। यही उस ज़माने का रंग था। हमारे रईस लोग विलास में मग्न थे, और प्रेम, विरह और वियोग के सिवा उन्हें कुछ न सूझता था। अगर कहीं जीवन का नक़शा है भी, तो यही कि संसार चंद-रोज़ा है, अनित्य है, और यह दुनिया दुःख का भण्डार है और इसे जितनी जल्दी छोड़ दो, उतना ही अच्छा। इस थोथे वैराग्य के सिवा और कुछ नहीं। हाँ, सूक्तियों और सुभाषितों की दृष्टि से वह अमूल्य है। उर्दू

की कविता आज भी उसी रंग पर चली जा रही है, यद्यपि विषय में थोड़ी-सी गहराई आ गई है। हिन्दी में नवीन ने प्राचीन से बिल्कुल नाता तोड़ लिया है। और आज की हिन्दी कविता भावों की गहराई, आत्म-व्यंजना और अनुभूतियों के एतबार से प्राचीन कविता से कहीं बढ़ी हुई है। समय के प्रभाव ने उसपर भी अपना रंग जमाया है और वह प्रायः निराशावाद का रुदन है, यद्यपि कवि उस रुदन से दुःखी नहीं होता ; बल्कि उसने अपने धैर्य और संतोष का दायरा इतना फैला दिया है कि वह बड़े-से-बड़े दुःख और बाधा का स्वागत करता है। और चूँकि वह उन्हीं भावों को व्यक्त करता है, जो हम सभी के हृदयों में मौजूद हैं, उसकी कविता में मर्म को स्पर्श करने की अतुल शक्ति है। यह ज़ाहिर है कि अनुभूतियाँ सबके पास नहीं होतीं और जहाँ थोड़े-से कवि अपने दिल का दर्द कहते हैं, बहुत-से केवल कल्पना के आधार पर चलते हैं।

अगर आप दुःख का विलास चाहते हैं, तो महादेवी, 'प्रसाद', पंत, सुभद्रा, 'लली', 'द्विज', 'मिलिन्द', 'नवीन', पं० माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की रचनाएँ पढ़िये। मैंने केवल उन कवियों के नाम दिये हैं, जो मुझे याद आये, नहीं तो और भी ऐसे कई कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पढ़कर आप अपना दिल थाम लेंगे, दुःख के स्वर्ग में पहुँच जायँगे। काव्यों का आनन्द लेना चाहें, तो मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठीजी के काव्य पढ़िये। ग्राम्य-साहित्य का दफ़ीना भी त्रिपाठीजी ने खोदकर आपके सामने रख दिया है। उसमें से जितने रत्न चाहे शौक से निकाल ले जाइए और देखिये उस देहाती गान में कवित्व की कितनी माधुरी और कितना अनूठापन है। ड्रामे का शौक़ है, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक और क्रांतिकारी नाटक पढ़िये। ऐतिहासिक और भावमय नाटकों की रुचि है, तो 'प्रसाद' जी की लगाई हुई पुष्पवाटियों की सैर कीजिये। उर्दू में सबसे अच्छा नाटक जो मेरी नज़र से गुज़रा वह 'ताज' का रचा हुआ 'अनारकली' है। हास्य-रस के पुजारी हैं, तो अन्नपूर्णानन्द की रचनाएँ पढ़िये। राष्ट्र-भाषा के सच्चे नमूने देखना चाहते हैं, तो जी० पी० श्रीवास्तव

के हँसानेवाले नाटकों की सैर कीजिये। उर्दू में हास्य-रस के कई ऊँचे दरजे के लेखक हैं और पंडित रतननाथ दर तो इस रङ्ग में कमाल कर गये हैं। उमर ख़ैयाम का मज़ा हिन्दी में लेना चाहें तो 'बच्चन' कवि की मधुशाला में जा बैठिये। उसकी महक से ही आपको सरूर आ जायगा। गल्प-साहित्य में 'प्रसाद', 'कौशिक', जैनेन्द्र, 'भारतीय', 'अज्ञेय', वीरेश्वर आदि की रचनाओं में आप वास्तविक जीवन की झलक देख सकते हैं। उर्दू के उपन्यासकारों में शरर, मिर्ज़ा रुसवा, सज्ज़ाद हुसेन, नज़ीर अहमद आदि प्रसिद्ध हैं, और उर्दू में राष्ट्र-भाषा के सबसे अच्छे लेखक ख्वाजा हसन निज़ामी हैं, जिनकी क़लम में दिल को हिला देने की ताक़त है। हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में अभी अच्छी चीज़ें कम आई हैं, मगर लक्षण कह रहे हैं कि नई पौध इस क्षेत्र में नये उत्साह, नये दृष्टिकोण, नये सन्देश के साथ आ रही है। एक युग की इस तरक़्क़ी पर हमें लज्जित होने का कारण नहीं है।

मित्रो, मैं आपका बहुत-सा समय ले चुका; लेकिन एक झगड़े की बात बाकी है, जिसे उठाते हुए मुझे डर लग रहा है। इतनी देर तक उसे टालता रहा; पर अब उसका भी कुछ समाधान करना लाज़िम है। वह राष्ट्रलिपि का विषय है। बोलने की भाषा तो किसी तरह एक हो सकती है; लेकिन लिपि कैसे एक हो? हिन्दी और उर्दू लिपियों में तो पूरब-पच्छिम का अन्तर है। मुसलमानों को अपनी फ़ारसी लिपि उतनी ही प्यारी है, जितनी हिन्दुओं को अपनी नागरी लिपि। वह मुसलमान भी जो तमिल, बँगला या गुजराती लिखते-पढ़ते हैं, उर्दू को धार्मिक श्रद्धा को दृष्टि से देखते हैं; क्योंकि अरबी और फ़ारसी लिपि में वही अन्तर है, जो नागरी और बँगला में है, बल्कि उससे भी कम। इस फ़ारसी लिपि में उनका प्राचीन गौरव, उनकी संस्कृति, उनका ऐतिहासिक महत्त्व सब कुछ भरा हुआ है। उसमें कुछ कचाइयाँ हैं, तो ख़ूबियाँ भी हैं, जिनके बल पर वह अपनी हस्ती क़ायम रख सकी है। वह एक प्रकार का शार्टहैंड है, हमें अपनी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रलिपि का प्रचार मित्र-भाव से करना है, इसका पहला क़दम यह है कि हम

नागरी लिपि का संगठन करें। बँगला, गुजराती, तमिल, आदि अगर नागरी लिपि स्वीकार कर लें, तो राष्ट्रीय लिपि का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जायगा और कुछ नहीं तो केवल संख्या ही नागरी को प्रधानता दिला देगी। और हिन्दी लिपि का सीखना इतना आसान है और इस लिपि के द्वारा उनकी रचनाओं और पत्रों का प्रचार इतना ज़्यादा हो सकता है कि मेरा अनुमान है, वे उसे आसानी से स्वीकार कर लेंगे। हम उर्दू लिपि को मिटाने तो नहीं जा रहे हैं। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमारी एक क़ौमी लिपि हो जाय। अगर सारा देश नागरी लिपि का हो जायगा, तो सम्भव है मुसलमान भी उस लिपि को .कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देगी। क्या मुसलपानों में यह स्वाभाविक इच्छा नहीं होगी कि उनके पत्र और उनकी पुस्तकें सारे भारतवर्ष में पढ़ी जायँ ? हम तो किसी लिपि को भी मिटाना नहीं चाहते। हम तो इतना ही चाहते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार नागरी में हों। मुसलमानों में राजनैतिक जागृति के साथ यह प्रश्न आप हल हो जायगा। यू० पी० में यह आन्दोलन भी हो रहा है कि स्कूलों में उर्दू के छात्रों को हिन्दी और हिन्दी के छात्रों को उर्दू का इतना ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय कि वह मामूली पुस्तकें पढ़ सकें और ख़त लिख सकें। अगर वह आन्दोलन सफल हुआ, जिसकी आशा है, तो प्रत्येक बालक हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों से परिचित हो जायगा। और जब भाषा एक हो जायगी तो हिन्दी अपनी पूर्णता के कारण सर्वमान्य हो जायगी और राष्ट्रीय योजनाओं में उसका व्यवहार होने लगेगा। हमारा काम यही है कि जनता में राष्ट्र-चेतनता को इतनी सजीव कर दें कि वह राष्ट्र-हित के लिए छोटे-छोटे स्वार्थों को बलिदान करना सीखे। आपने इस काम का बीड़ा उठाया है, और मैं जानता हूँ आपने क्षणिक आवेश में आकर यह साहस नहीं किया है; बल्कि आपका इस मिशन में पूरा विश्वास है, और आप जानते हैं कि यह विश्वास, कि हमारा पक्ष सत्य और न्याय का पक्ष है, आत्मा को कितना बलवान् बना देता है।

समाज में हमेशा ऐसे लोगों की कसरत होती है, जो खाने-पीने, धन बटोरने और ज़िन्दगी के अन्य धन्धों में लगे रहते हैं। यह समाज की देह है। उसके प्राण वह गिने-गिनाये मनुष्य हैं, जो उसकी रक्षा के लिए सदैव लड़ते रहते हैं; कभी अन्धविश्वास से, कभी मूर्खता से, कभी कुव्यवस्था से, कभी पराधीनता से। इन्हीं लड़न्तियों के साहस और बुद्धि पर समाज का आधार है। आप इन्हीं सिपाहियों में हैं। सिपाही लड़ता है, हारने जीतने की उसे परवाह नहीं होती। उसके जीवन का ध्येय ही यह है कि वह बहुतों के लिए अपने को होम कर दे। आपको अपने सामने कठिनाइयों की फौजें खड़ी नज़र आयेंगी। बहुत सम्भव है, आपको उपेक्षा का शिकार होना पड़े। लोग आपको सनकी और पागल भी कह सकते हैं। कहने दीजिये। अगर आपका संकल्प सत्य है, तो आप में से हरेक एक-एक सेना का नायक हो जायगा। आपका जीवन ऐसा होना चाहिये कि लोगों को आप में विश्वास और श्रद्धा हो। आप अपनी बिजली से दूसरों में भी बिजली भर दें, हर एक पन्थ की विजय उसके प्रचारकों के आदर्श जीवन पर ही निर्भर होती है। अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में ऊँचे-से-ऊँचा उद्देश्य भी निंद्य हो सकता है। मुझे विश्वास है, आप अपने को अयोग्य न बनने देंगे

[दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ उपाधिवितरणोत्सव के अवसर पर, २९ दिसम्बर, १९३४ ई० को दिया गया दीक्षान्त भाषण।]

क़ौमी भाषा के विषय में कुछ विचार

भाषा ही राष्ट्र की बुनियाद है

बहनो और भाइयो,

किसी क़ौम के जीवन, और उसकी तरक़्क़ी में भाषा का कितना बड़ा हाथ है, इसे हम सब जानते हैं और उसकी तशरीह करना आप-जैसे विद्वानों की तौहीन करना है। यह दो पैरोंवाला जीव उसी वक्त आदमी बना, जब उसने बोलना सीखा। यों तो सभी जीवधारियों की एक भाषा होती है। वह उसी भाषा में अपनी ख़ुशी और रंज, अपना क्रोध और भय, अपनी हाँ या नहीं बतला दिया करता है। कितने ही जीव तो केवल इशारों से ही अपने दिल का हाल और स्वभाव ज़ाहिर करते हैं। यह दर्जा आदमी ही को हासिल है कि वह अपने मन के भाव और विचार सफ़ाई और बारीकी से बयान करे। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बग़ैर किसी समाज का ख़याल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालतें सब मिल-जुलकर वहाँ के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल-सूरत, व्यवहार-विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती हैं। इस तरह हमारी भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है। यों कह सकते हैं कि भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। वह हमारी शकल-सूरत हमारे रंग-रूप ही की भाँति हमारी आत्मा से निकलती है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। ज्यों-ज्यों हमारी आत्मा का विकास होता है, हमारी भाषा भी प्रौढ़ और पुष्ट होती जाती है। आदि में जो लोग इशारों में बात करते थे, फिर अक्षरों में अपने भाव

प्रकट करने लगे, वही लोग फिलॉसफी लिखते और शायरी करते हैं, और जब ज़माना बदल जाता है और हम उस जगह से निकलकर दुनिया के दूसरे हिस्सों में आबाद हो जाते हैं, हमारा रङ्ग-रूप भी बदल जाता है। फिर भी भाषा सदियों तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हमज़बान हैं, उनमें एक अपनापन, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल-मिलाव के जितने साधन हैं, उनमें सबसे मजबूत, असर डालनेवाला रिश्ता भाषा का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमज़ोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं; लेकिन भाषा का रिश्ता समय की और दूसरी बिखेरनेवाली शक्तियों की परवा नहीं करता, और एक तरह से अमर हो जाता है।

क़ौमी भाषा की ओर हमारी उदासीनता

लेकिन आदि में मनुष्यों के जैसे छोटे-छोटे समूह होते हैं, वैसी ही छोटी-छोटी भाषाएँ भी होती हैं। अगर ग़ौर से देखिये, तो २०-२५ कोस के अन्दर ही भाषाओं में कुछ-न-कुछ फ़र्क हो जाता है। कानपुर और झाँसी की सरहदें मिली हुई हैं। केवल एक नदी का अन्तर है; लेकिन नदी की उत्तर तरफ़ कानपुर में जो भाषा बोली जाती है, उसमें और नदी की दक्षिण तरफ़ की भाषा में साफ़-साफ़ फ़र्क नज़र आता है। सिर्फ़ प्रयाग में कम-से-कम दस तरह की भाषाएँ बोली जाती हैं, लेकिन जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएँ किसी सूबे की भाषा में जा मिलती और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। हिन्दी ही में ब्रजभाषा, बुन्देलखण्डी, अवधी, मैथिल, भोजपुरी आदि भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, लेकिन जैसे छोटी-छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं, उसी तरह ये सभी प्रान्तीय भाषाएँ हिन्दी की मातहत हो गई हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिन्दी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता है; लेकिन

हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की ज़रूरत पड़ गई है, जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाय, जिसे हम हिन्दी या गुजराती या मराठी या उर्दू न कहकर हिन्दुस्तानी भाषा कह सकें, जिसे हिन्दुस्तान का प्रत्येक पढ़ा या बेपढ़ा आदमी उसी तरह समझे या बोले, जैसे हर एक अंग्रेज़ या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अंग्रेज़ी भाषा बोलता और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें; लेकिन एक क़ौमी भाषा का मरकज़ी सहारा लिये बग़ैर आपके राष्ट्र की जड़ कभी मज़बूत नहीं हो सकती। हमें रञ्ज के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हमने क़ौमी भाषा की ओर जितना ध्यान देना चाहिये, उतना नहीं दिया है। हमारे पूज्य नेता सब-के-सब ऐसी ज़बान की ज़रूरत को मानते हैं। लेकिन, अभी तक उनका ध्यान ख़ास तौर पर इस विषय की ओर नहीं आया। हम ऐसा राष्ट्र बनाने का स्वप्न देख रहे हैं, जिसकी बुनियाद इस वक्त सिर्फ़ अंग्रेज़ी हुकूमत है। इस बालू की बुनियाद पर हमारी क़ौमियत का मीनार खड़ा किया जा रहा है। और अगर हमने क़ौमियत की सबसे बड़ी शर्त, यानी क़ौमी ज़बान की तरफ़ से लापरवाही की, तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी क़ौम को ज़िन्दा रखने के लिए अंग्रेज़ी की मरकज़ी हुकूमत का क़ायम रहना लाज़िम होगा; वरना कोई मिलानेवाली ताक़त न होने के कारण हम सब बिखर जायँगे और प्रान्तीयता ज़ोर पकड़कर राष्ट्र का गला घोंट देगी, और जिस बिखरी हुई दशा में हम अंग्रेज़ों के आने के पहले थे, उसी में फिर लौट जायँगे।

इस उदासीनता का कारण

इस लापरवाही का ख़ास सबब है—अंग्रेज़ी ज़बान का बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आतम-सम्मान की वह कमी, जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती। यह दुरुस्त है कि आज भारत की दफ़्तरी ज़बान अंग्रेज़ी है और भारत की जनता पर शासन करने में अंग्रेज़ों का हाथ

बटाने के लिए हमारा अंग्रेज़ी जानना ज़रूरी है। इल्म और हुनर और ख़यालात में जो इनक़लाब होते रहते हैं, उनके वाक़िफ़ होने के लिए भी अंग्रेज़ी ज़बान सीखना लाज़िमी हो गया है। ज़ाती शोहरत और तरक्की की सारी कुंजियाँ अंग्रेज़ी के हाथ में हैं और कोई भी उस ख़ज़ाने को नाचीज़ नहीं समझ सकता। दुनिया की तहज़ीबी या सांस्कृतिक बिरादरी में मिलने के लिए अंग्रेज़ी ही हमारे लिए एक दरवाज़ा है और उसकी तरफ़ से हम आँख नहीं बन्द कर सकते; लेकिन हम दौलत और अख़्तियार की दौड़ में, और बेतहाशा दौड़ में क़ौमी भाषा की ज़रूरत बिल्कुल भूल गये और उस ज़रूरत की याद कौन दिलाता? आपस में तो अंग्रेज़ी का व्यवहार था ही, जनता से ज्यादा सरोकार था ही नहीं, और अपनी प्रान्तीय भाषा से सारी ज़रूरतें पूरी हो जाती थीं। क़ौमी भाषा का स्थान अंग्रेज़ी ने ले लिया और उसी स्थान पर विराजमान है। अंग्रेज़ी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का, हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज़्यादा अंग्रेज़ी भाषा का है। अंग्रेज़ी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बग़ावत करते हैं; लेकिन अंग्रेज़ी भाषा को आप गुलामी के तौक़ की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अंग्रेज़ी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं। उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं; लेकिन अंग्रेज़ी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है; उसके बग़ैर हमारा पढ़ा-लिखा समाज़ अनाथ हो जायगा। पुराने समय में आर्य्य और अनार्य्य का भेद था, आज अंग्रेज़ीदाँ और ग़ैर-अंग्रेज़ीदाँ का भेद है। अंग्रेज़ीदाँ आर्य्य है। उसके हाथ में, अपने स्वामियों की कृपा-दृष्टि की बदौलत कुछ अख़्त्यार है, रोब है, सम्मान है; ग़ैर-अंग्रेज़ीदाँ अनार्य्य है और उसका काम केवल आर्य्यों की सेवा-टहल करना है और उनके भोग-विलास और भोजन के लिए सामग्री जुटाना है। यह आर्य्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन-दूना रात चौगुना। अगर सौ-दो सौ साल में भी वह सारे भारत में फैल जाता, तो हम कहते बला से, विदेशी ज़बान है, हमारा काम तो चलता है; लेकिन इधर तो हज़ार-दो हज़ार साल में भी उसके

जनता में फैलने का इमकान नहीं। दूसरे वह पढ़े-लिखों को जनता से अलग किये चली जा रही है। यहाँ तक कि इनमें एक दीवार खिंच गई है। साम्राज्यवादी जाति की भाषा में कुछ तो उसके घमण्ड और दबदबे का असर होना ही चाहिये। हम अँग्रेज़ी पढ़कर अगर अपने को महकूम जाति का अङ्ग भूलकर हाकिम जाति का अङ्ग समझने लगते हैं, कुछ वही ग़रूर, कुछ वही अहम्मन्यता, 'हम चुनीं दीगरे नेस्त' वाला भाव, बहुतों में क़सदन, और थोड़े आदमियों में बेजाने पैदा हो जाता है, तो कोई ताज्जुब नहीं। हिन्दुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गई है, उनका रहन-सहन, चाल-ढाल, पहनावा-बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है, साफ मालूम होता है कि यह कोई नई उपज है। जो हमारा अँग्रेज़ी साहब करता है, वही हमारा हिन्दुस्तानी साहब करता है, करने पर मजबूर है। अँग्रेज़ियत ने उसे हिप्नोटाइज कर दिया है, उसमें बेहद उदारता आ गई है, छूतछात से सोलहो आना नफ़रत हो गई है, वह अँग्रेज़ी साहब की मेज़ का जूठन भी खा लेगा और उसे गुरु का प्रसाद समझ लेगा; लेकिन जनता उसकी उदारता में स्थान नहीं पा सकती, उसे तो वह काला आदमी समझता है। हाँ, जब कभी अँग्रेज़ी साहबों से उसे कोई ठोकर मिलती है, तो वह दौड़ा हुआ जनता के पास फ़रियाद करने जाता है, उसी जनता के पास, जिसे वह काला आदमी और अपना भोग्य समझता है। अगर अँग्रेज़ी स्वामी उसे नौकरियाँ देता जाय, उसे, उसके लड़कों, पोतों, सबको, तो उसे अपने हिन्दुस्तानी या गुलाम होने का कभी खयाल भी न आयगा। मुश्किल तो यही है कि वहाँ भी गुञ्जायश नहीं है। ठोकरें-पर-ठोकरें मिलती हैं, तब यह क्लास देश-भक्त बन जाता है और जनता का वकील और नेता बनकर उसका ज़ोर लेकर अँग्रेज़ साहब का मुक़ाबिला करना चाहता है। तब उसे ऐसी भाषा की कमी महसूस होती है, जिसके द्वारा वह जनता तक पहुँच सके। कांग्रेस को जो थोड़ा-बहुत यश मिला, वह जनता को उसी भाषा में अपील करने से मिला। हिन्दुस्तान में इस वक्त

करीब २४-२५ करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी भाषा समझ सकते हैं। यह क्या दुःख की बात नहीं कि वे, जो भारतीय जनता की वकालत के दावेदार हैं, वह भाषा न बोल सकें और न समझ सकें, जो पचीस करोड़ की भाषा है, और जो थोड़ी-सी कोशिश से सारे भारतवर्ष की भाषा बन सकती है ? लेकिन अँग्रेज़ी के चुने हुए शब्दों और महाविरों और मँजी हुई भाषा में अपनी निपुणता और कुशलता दिखाने का रोग इतना बढ़ा हुआ है कि हमारी क़ौमी सभाओं में सारी कार्रवाई अँग्रेज़ी में होती है, अँग्रेज़ी में भाषण दिये जाते हैं, प्रस्ताव पेश किये जाते हैं, सारी लिखा-पढ़ी अँग्रेज़ी में होती है, उस संस्था में भी, जो अपने को जनता की संस्था कहती है। यहाँ तक कि सोशलिस्ट और कम्यूनिस्ट भी, जो जनता के ख़ासुलख़ास झंडे-बरदार हैं, सभी कार्रवाई अँग्रेज़ी में करते हैं। जब हमारी क़ौमी संस्थाओं की यह हालत है, तो हम सरकारी महकमों और युनिवर्सिटियों से क्या शिकायत करें ? मगर १०० वर्ष तक अँग्रेज़ी पढ़ने-लिखने और बोलने के बाद भी एक हिन्दुस्तानी भी ऐसा नहीं निकला, जिसकी रचना का अँग्रेज़ी में आदर हो। हम अँग्रेज़ी भाषा की ख़ैरात खाने के इतने आदी हो गये हैं कि अब हमें हाथ-पाँव हिलाते कष्ट होता है। हमारी मनोवृत्ति कुछ वैसी ही हो गई है, जैसी अक्सर भिखमंगों की होती है जो इतने आराम-तलब हो जाते हैं कि मज़दूरी मिलने पर भी नहीं करते। यह ठीक है कि कुदरत अपना काम कर रही है और जनता क़ौमी भाषा बनाने में लगी हुई है। उसका अंग्रेज़ी न जानना, क़ौम की भाषा के लिए अनुकूल जलवायु दे रहा है। इधर सिनेमा के प्रचार ने भी इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है और ज़्यादातर फ़िल्में हिन्दुस्तानी भाषा में ही निकल रही हैं। सभी ऐसी भाषा में बोलना चाहते हैं, जिसे ज़्यादा-से-ज़्यादा आदमी समझ सकें ; लेकिन जब जनता अपने रहनुमाओं को अंग्रेज़ी में बोलते और लिखते देखती है, तो क़ौमी भाषा से उसे जो हमदर्दी है, उसमें ज़ोर का धक्का लगता है, उसे कुछ ऐसा ख़याल होने लगता है कि क़ौमी भाषा कोई ज़रूरी चीज़ नहीं है। जब उसके नेता, जिनके

क़दमों के निशान पर वह चलती है, और जो जनता की रुचि बनाते हैं, क़ौमी भाषा को हक़ीर समझें—सिवाय इसके कि कभी-कभी श्रीमुख से उसकी तारीफ़ कर दिया करें—तो जनता से यह उम्मीद करना कि वह क़ौमी भाषा के मुर्दे को पूजती जायगी, उसे बेवकूफ़ समझना है। और जनता को आप जो चाहें इलज़ाम दे लें, वह बेवकूफ़ नहीं है। आपने समझदारी का जो तराजू अपने दिल में बना रखा है, उस पर वह चाहे पूरी न उतरे; लेकिन हम दावे से कह सकते हैं कि कितनी ही बातों में वह आपसे और हमसे कहीं ज़्यादा समझदार है। क़ौमी भाषा के प्रचार का एक बहुत बड़ा ज़रिया हमारे अख़बार हैं; लेकिन अख़बारों की सारी शक्ति नेताओं के भाषणों, व्याख्यानों और बयानों के अनुवाद करने में ही ख़र्च हो जाती है, और चूँकि शिक्षित समाज ऐसे अख़बार ख़रीदने और पढ़ने में अपनी हतक समझता है, इसलिए ऐसे पत्रों का प्रचार बढ़ने नहीं पाता और आमदनी कम होने के सबब वे पत्र को मनोरंजक नहीं बना सकते। वाइसराय या गवर्नर अंग्रेज़ी में बोलें, हमें कोई एतराज़ नहीं; लेकिन अपने ही भाइयों के ख़यालात तक पहुँचने के लिए हमें अंग्रेज़ी से अनुवाद करना पड़े, यह हालत भारत जैसे ग़ुलाम देश के सिवा और कहीं नज़र नहीं आ सकती। और ज़बान की ग़ुलामी ही असली ग़ुलामी है। ऐसे भी देश संसार में हैं, जिन्होंने हुक्मराँ जाति की भाषा को अपना लिया। लेकिन उन जातियों के पास न अपनी तहज़ीब या सभ्यता थी, और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी। वे उन बच्चों की तरह थे, जो थोड़े ही दिनों में अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नई भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती; हालाँकि लक्षण सब वही हैं।

क़ौमी भाषा का रूप

सवाल यह होता है कि जिस क़ौमी भाषा पर इतना ज़ोर दिया जा रहा है, उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभी तक हम उसकी

क़ोई ख़ास सूरत नहीं बना सके हैं, इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे, वे अंग्रेज़ी के पुजारी थे और हैं ; मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबेवाली भाषा इस कसौटी पर पूरी नहीं उतरती। सिर्फ़ हिन्दुस्तानी ऐसी भाषा है, जिसे यह दर्जा हासिल है। इसे उर्दू या हिन्दी का अलग-अलग नाम न देकर मैं हिन्दुस्तानी कहता हूँ ; क्योंकि मेरे ख़्याल में हिन्दी और उर्दू दोनों एक ज़बान हैं। क्रिया और कर्त्ता, फ़ेल और फ़ाइल, जब एक हैं, तो उनके एक होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिन्दुस्तानी ज़बान है, जिसमें फ़ारसी अरबी के लफ़्ज़ ज़्यादा हों, उसी तरह हिन्दी वह हिन्दुस्तानी है, जिसमें संस्कृत के शब्द ज्यादा हो ; लेकिन जिस तरह अंग्रेज़ी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अंग्रेज़ी हैं, उसी भाँति हिन्दुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों के मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बात-चीत में तो हम हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं। थोड़ी-सी कोशिश से हम इसका व्यवहार उन सभी कामों में कर सकते हैं, जिनसे जनता का सम्बन्ध है। मैं यहाँ एक उर्दू पत्र से दो-एक उदाहरण देकर अपना मतलब साफ़ कर देना चाहता हूँ—

'एक ज़माना था, जब देहातों में चरख़ा और चक्की के बग़ैर कोई घर ख़ाली न था। चक्की चूल्हे से छुट्टी मिली, तो चरख़े पर सूत कात लिया। औरतें चक्की पीसती थीं इससे उनकी तन्दुरुस्ती बहुत अच्छी रहती थी, उनके बच्चे मज़बूत और जफ़ाकश होते थे ; मगर अब तो अंग्रेज़ी तहज़ीब और मुआशरत ने सिर्फ़ शहरों में ही नहीं देहातों में भी काया पलट दी है। हाथ की चक्की के बजाय अब मशीन का पिसा हुआ आटा इस्तेमाल किया जाता है। गाँवों में चक्की न रही, तो चक्की पर गीत कौन गाये? जो बहुत ग़रीब हैं, वे अब भी घर की चक्की का आटा इस्तेमाल करते हैं। चक्की पीसने का वक्त अमूमन रात का तीसरा पहर होता है। सरे शाम ही से पीसने के लिए अनाज रख लिया जाता है और पिछले पहर से उठकर औरतें चक्की पीसने बैठ जाती हैं।'....

इस पैराग्राफ को मैं हिन्दुस्तानी का बहुत अच्छा नमूना समझता हूँ, जिसे समझने में किसी भी हिन्दी समझनेवाले आदमी को ज़रा भी मुश्किल न पड़ेगी। अब मैं उर्दू का एक दूसरा पैरा देता हूँ—

'उसकी वफ़ा का जज़्बा सिर्फ़ ज़िन्दा हस्तियों के लिए महदूद न था। वह ऐसी परवाना थी, कि न सिर्फ जलती हुई शमा पर निसार होती थी, बल्कि बुझी हुई शमा पर भी ख़ुद को क़ुरबान कर देती थी। अगर मौत का ज़ालिम हाथ उसके रफ़ीक़ हयात को छीन लेता था, तो वह बाक़ी ज़िन्दगी उसके नाम और उसकी याद में बसर कर देती थी। एक की कहलाने और एक की हो जाने के बाद फिर दूसरे किसी शख़्स का ख़याल भी उसके वफ़ापरस्त दिल में भूलकर भी न उठता था।'

अगर पहले जुमले को हम इस तरह लिखें—'वह सिर्फ जिन्दा आदमियों के साथ वफ़ा न करती थी' और 'वफ़ापरस्त' की जगह 'प्रेमी', 'रफ़ीक़ हयात' की जगह 'बीवी' का व्यवहार करें, तो वह साफ़ हिन्दुस्तानी बन जायगी और फिर उसके समझने में किसी को दिक्क़त न होगी। अब मैं एक हिन्दी-पत्र से एक पैरा नक़ल करता हूँ—

'मशीनों के प्रयोग से आदमियों का बेकार होना और नये-नये आविष्कारों से बेकारी का बढ़ना, फिर बाजार की कमी, रही-सही कमी को और भी पूरा कर देती है। बेकारी की समस्या को अधिक भयंकर रूप देने के लिए यही काफी था; लेकिन इसके ऊपर संसार में हर दसवें साल की जन-गणना देखने से मालूम हो रहा है कि जन-संख्या बढ़ती ही जा रही है। पूँजीवाद कुछ लोगों को धनी बनाकर उनके लिए सुख और विलास की नई-नई सामग्री जुटा सकता है।'

यह हिन्दी के एक मशहूर और माने हुए विद्वान् की शैली का नमूना है, इसमें 'प्रयोग', 'आविष्कार', 'समस्या' यह तीन शब्द ऐसे हैं, जो उर्दूदाँ लोगों को अपरिचित लगेंगे। बाक़ी सभी भाषाओं के बोलनेवालों की समझ में आ सकते हैं। इससे साबित हो रहा है कि हिन्दी या उर्दू में कितने थोड़े रद्दोबदल से उसे हम क़ौमी भाषा बना सकते हैं। हमें सिर्फ़ अपने शब्दों का कोष बढ़ाना पड़ेगा और वह

भी ज्यादा नहीं। एक दूसरे लेख की शैली का नमूना और लीजिये—

'अपने साथ रहनेवाले नागरिकों के साथ हमारा जो रोज़-रोज़ का सम्बन्ध होता है, उसमें क्या आप समझते हैं कि वस्तुतः न्यायकर्त्ता, जेल के अधिकारी और पुलीस के कारण ही समाज-विरोधी कार्य्य बढ़ने नहीं पाते? न्यायकर्त्ता तो सदा ख़ूँख़्वार बना रहता है, क्योंकि वह क़ानून का पागल है, अभियोग लगानेवाला, पुलीस को खबर देनेवाला, पुलीस का गुप्तचर, तथा इसी श्रेणी के और लोग जो अदालतों के इर्द गिर्द मँड़राया करते हैं और किसी प्रकार अपना पेट पालते हैं, क्या यह लोग व्यापक रूप से समाज में दुर्नीति का प्रचार नहीं करते? मामलों-मुक़दमों की रिपोर्ट पढ़िये, पर्दे के अन्दर नज़र डालिये, अपनी विश्लेषक बुद्धि को अदालतों के बाहरी भाग तक ही परिमित न रखकर भीतर ले जाइये, तब आपको जो कुछ मालूम होगा, उससे आपका सिर बिल्कुल भन्ना उठेगा'।

यहाँ अगर हम 'समाज-विरोधी' की जगह 'समाज को नुक़सान पहुँचानेवाले', 'अभियोग' की जगह 'जुर्म', 'गुप्तचर' की जगह 'मुख़बिर', 'श्रेणी' की जगह 'दर्जा', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई', 'विश्लेषक बुद्धि' की जगह 'परख', 'परिमित' की जगह 'बन्द' लिखें तो वह सरल और सुबोध हो जाती है और हम उसे हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

इस रूप का प्रचार कैसे हो?

इन उदाहरणों या मिसालों से ज़ाहिर है कि हिन्दी-कोष में उर्दू के और उर्दू-कोष में हिन्दी के शब्द बढ़ाने से काम चल सकता है। यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि थोड़े दिन पहले फ़ारसी और उर्दू के दरबारी भाषा होने के सबब से फ़ारसी के शब्द जितना रिवाज पा गये हैं, उतना संस्कृत के शब्द नहीं। संस्कृत शब्दों के उच्चारण में जो कठिनाई होती है, इसको हिन्दी के विद्वानों ने पहले ही देख लिया और उन्होंने हज़ारों संस्कृत शब्दों को इस तरह बदल दिया कि वह आसानी में बोले जा सकें। व्रजभाषा और अवधी में इसकी बहुत-सी

मिसालें मिलती हैं, जिन्हें यहाँ लाकर मैं आपका समय नहीं खराब करना चाहता ; इसलिए कौमी भाषा में भी उनका वही रूप रखना पड़ेगा, और संस्कृत शब्दों की जगह, जिन्हें सर्व-साधारण नहीं समझते, ऐसे फारसी शब्द रखने पड़ेंगे, जो विदेशी होकर भी इतने आम हो गये हैं कि उनको समझने में जनता को कोई दिक़्क़त नहीं होती। 'अभियोग' का अर्थ वही समझ सकता है, जिसने संस्कृत पढ़ी हो। जुर्म का मतलब बे-पढ़े भी समझते हैं। 'गुप्तचर' की जगह 'मुख़बिर', 'दुर्नीति' की जगह 'बुराई' ज़्यादा सरल शब्द है। शुद्ध हिन्दी के भक्तों को मेरे इस बयान से मतभेद हो सकता है। लेकिन अगर हम ऐसी क़ौमी ज़बान चाहते हैं, जिसे ज़्यादा-से-ज़्यादा आदमी समझ सकें, तो हमारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, और यह कौन नहीं चाहता कि उसकी बात ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग समझें, ज़्यादा-से-ज़्यादा आदमियों के साथ उसका आत्मिक सम्बंध हो। हिन्दी में एक फ़रीक़ ऐसा है, जो यह कहता है कि चूँकि हिन्दुस्तान की सभी सूबेवाली भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उनमें संस्कृत के शब्द अधिक हैं इसलिए हिन्दी में हमें अधिक-से-अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहियें, ताकि अन्य प्रान्तों के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिन्दी को कोई फ़ायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबों के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिन्दी बोलनेवाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिन्दी बोलनेवाला आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कहीं ज़्यादा फ़ारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते, और फिर इसकी ज़रूरत ही क्या है, कि हम भाषा को पवित्रता की धुन में तोड़-मोड़ डालें। यह ज़रूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ-न-कुछ अन्तर होता है ; लेकिन लिखित भाषा सदैव बोल-चाल की भाषा से मिलते जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखित भाषा की ख़ूबी यही है कि वह बोल-चाल की भाषा से मिले। इस आदर्श से वह जितनी

ही दूर जाती है, उतनी ही अस्वाभाविक हो जाती है। बोल-चाल की भाषा भी अवसर और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। विद्वानों के समाज में जो भाषा बोली जाती है, वह बाज़ार की भाषा से अलग होती है। शिष्ट भाषा की कुछ-न-कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिये ; लेकिन इतनी नहीं कि उससे भाषा के प्रचार में बाधा पड़े। फ़ारसी शब्दों में शीन-क़ाफ़ की बड़ी क़ैद है ; लेकिन क़ौमी भाषा में यह क़ैद ढीली करनी पड़ेगी। पंजाब के बड़े-बड़े विद्वान भी 'क़' की जगह 'क' ही का व्यवहार करते हैं। मेरे खयाल में तो भाषा के लिए सबसे महत्त्व की चीज़ है कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा आदमी, चाहे वे किसी प्रान्त के रहनेवाले हों, समझें, बोलें, और लिखें। ऐसी भाषा न पंडिताऊ होगी और न मौलवियों की। उसका स्थान इन दोनों के बीच में है। यह ज़ाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती और शब्दों के विन्यास की बहुत थोड़ी गुञ्जायश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। लेखक केवल अपने मन का भाव नहीं प्रकट करना चाहता ; बल्कि उसे बना-सँवारकर रखना चाहता है। बल्कि यों कहना चाहिये कि वह लिखता है रसिकों के लिए, साधारण जनता के लिए नहीं। उसी तरह, जैसे कलावंत राग-रागिनियाँ गाते समय केवल संगीत के आचार्यों ही से दाद चाहता है, सुननेवालों में कितने अनाड़ी बैठे हैं, इसकी उसे कुछ भी परवाह नहीं होती। अगर हमें राष्ट्र-भाषा का प्रचार करना है, तो हमें इस लालच को दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भाषा कानों और आँखों को खटकेगी ज़रूर, कहीं गंगा-मदार का जोड़ नज़र आयेगा, कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह डटा हुआ मालूम होगा, जैसे कौओं के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मज़ा बिगाड़ देंगे। पंडितजी भी खिलखिलायेंगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोड़ेंगे

और चारों तरफ़ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे ज़बह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिये यह साज़िश की गई है, हिन्दी को डुबोने के लिए यह माया रची गई है; लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मज़बूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्र-भाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मज़दूरों की भाषा बनना पड़ेगा। जैसे रईसों और अमीरों ही से राष्ट्र नहीं बनता, उसी तरह उनकी गोद में पली हुई भाषा राष्ट्र की भाषा नहीं हो सकती। यह मानते हुए कि सभाओं में बैठकर हम राष्ट्र-भाषा की तामीर नहीं कर सकते, राष्ट्र-भाषा तो बाज़ारों में और गलियों में बनती है; लेकिन सभाओं में बैठकर हम उसकी चाल को तेज़ ज़रूर कर सकते हैं। इधर तो हम राष्ट्र-राष्ट्र का ग़ुल मचाते हैं, उधर अपनी अपनी ज़बानों के दरवाज़ों पर संगीनें लिये खड़े रहते हैं कि कोई उसकी तरफ़ आँख न उठा सके। हिन्दी में हम उर्दू शब्दों को बिला तकल्लुफ़ स्थान देते हैं; लेकिन उर्दू के लेखक संस्कृत के मामूली शब्दों को भी अन्दर नहीं आने देते। वह चुन-चुनकर हिन्दी की जगह फ़ारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। ज़रा-ज़रा से मुज़क्कर और मुअन्नस के भेद पर तूफ़ान मच जाया करता है। उर्दू ज़बान सिरात का पुल बनकर रह गई है, जिससे ज़रा इधर-उधर हुए और जहन्नुम में पहुँचे। जहाँ राष्ट्र-भाषा के प्रचार करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ सब से बड़ी दिक्क़त इसी लिङ्ग-भेद के कारण पैदा हो रही है। हमें उर्दू के मौलवियों और हिन्दी के पण्डितों से उम्मीद नहीं कि वे इन फन्दों को कुछ नर्म करेंगे। यह काम हिन्दुस्तानी भाषा का होगा कि वह जहाँ तक हो सके निरर्थक क़ैदों से आज़ाद हो। आँख क्यों स्त्री लिङ्ग है और कान क्यों पुल्लिङ्ग है? इसका कोई सन्तोष के लायक़ जवाब नहीं दिया जा सकता।

राष्ट्रीय संस्थाओं से अपील

मेरी समझ में यही बात नहीं आती कि जो संस्था जनता की भाषा

का बायकाट करती है, उस पर दूर ही से लाठी लेकर उठती है, वह राष्ट्रीय संस्था किस लिहाज़ से है और जो लोग जनता की भाषा नहीं बोल सकते, वह जनता के वकील कैसे बन सकते हैं, चाहे वे समाजवाद या समष्टिवाद या किसी और वाद का लेबल लगाकर आवें। संभव है, इस वक्त आपको राष्ट्र-भाषा की ज़रूरत न मालूम होती हो और अँग्रेज़ी से आपका काम मज़े से चल सकता हो ; लेकिन अगर आगे चलकर हमें फिर हिन्दुस्तान को घरेलू लड़ाइयों से बचाना है, तो हमें उन सारे नातों को मज़बूत बनाना पड़ेगा, जो राष्ट्र के अंग हैं और जिनमें क़ौमी भाषा का स्थान सबसे ऊँचा नहीं, तो किसी से कम भी नहीं है। जब तक आप अँग्रेज़ी को अपनी क़ौमी भाषा बनाये हुए हैं, तब तक आपकी आज़ादी की धुन पर किसी को विश्वास नहीं आता। वह भीतर की आत्मा से निकली हुई तहरीक नहीं है, केवल आज़ादी के शहीद बन जाने की हविस है। यहाँ जय-जय के नारे और फूलों की वर्षा न हो ; लेकिन जो लोग हिन्दुस्तान को एक क़ौम देखना चाहते हैं—इसलिए नहीं कि वह क़ौम कमज़ोर क़ौमों को दबाकर, भाँति-भाँति के माया-जाल फैलाकर, रोशनी और ज्ञान फैलाने का ढोंग रचकर, अपने अमीरों का व्यापार बढ़ाये और अपनी ताक़त पर घमण्ड करे, बल्कि इसलिए कि वह आपस में हमदर्दी, एकता और सद्भाव पैदा करे और हमें इस योग्य बनाये कि हम अपने भाग्य का फैसला अपनी इच्छानुसार कर सकें—उनका यह फ़र्ज़ है कि क़ौमी भाषा के विकास और प्रचार में वे हर तरह मदद करें। और यहाँ सब कुछ हमारे हाथ में है। विद्यालयों में हम क़ौमी भाषा के दर्जे खोल सकते हैं। हर एक ग्रेजुएट के लिए क़ौमी भाषा में बोलना और लिखना लाज़िमी बना सकते हैं। हम हरेक पत्र में, चाहे वह मराठी हो या गुजराती या अँग्रेज़ी या बँगला, एक दो कॉलम क़ौमी भाषा के लिए अलग करा सकते हैं। अपने प्लेटफार्म पर क़ौमी भाषा का व्यवहार कर सकते हैं। आपस में क़ौमी भाषा में बात-चीत कर सकते हैं। जब तक मुल्की दिमाग़ अँग्रेज़ों की ग़ुलामी में ख़ुश होता रहेगा, उस वक्त तक भारत सच्चे मानी में राष्ट्र [illegible]

सकेगा। यह भी ज़ाहिर है कि एक प्रान्त या एक भाषा के बोलनेवाले क़ौमी भाषा नहीं बना सकते। क़ौमी भाषा तो तभी बनेगी, जब सभी प्रान्तों के दिमाग़दार लोग उसमें सहयोग देंगे। सम्भव है कि दस-पाँच साल भाषा का कोई रूप स्थिर न हो, कोई पूरब जाय कोई पश्चिम; लेकिन कुछ दिनों के बाद तूफान शान्त हो जायगा और जहाँ केवल धूल और अन्धकार और गुबार था, वहाँ हरा-भरा साफ़-सुथरा मैदान निकल आयेगा। जिनके क़लम में मुर्दों को जिलाने और सोतों को जगाने की ताक़त है, वे सब वहाँ विचरते हुए नज़र आयेंगे। तब हमें टैगोर, मुन्शी, देसाई और जोशी की कृतियों से आनन्द और लाभ उठाने के लिए मराठी और बँगला या गुजराती न सीखनी पड़ेगी। क़ौमी भाषा के साथ क़ौमी साहित्य का उदय होगा और हिन्दुस्तानी भी दूसरी सम्पन्न और सरसब्ज़ भाषाओं की मजलिस में बैठेगी। हमारा साहित्य प्रान्तीय न होकर क़ौमी हो जायगा। इस अँग्रेज़ी प्रभुत्व की यह बरकत है कि आज एडगर वैलेस, गाई बूथबी जैसे लेखकों से हम जितने मानूस हैं, उसका शतांश भी अपने शरत और मुन्शी और 'प्रसाद' की रचनाओं से नहीं। डॉक्टर टैगोर भी अँग्रेज़ी में न लिखते, तो शायद बंगाली दायरे के बाहर बहुत कम आदमी उनसे वाकिफ होते; मगर कितने खेद की बात है कि महात्मा गान्धी के सिवा किसी भी दिमाग़ ने क़ौमी भाषा की ज़रूरत नहीं समझी और उस पर ज़ोर नहीं दिया। यह काम क़ौमी सभाओं का है कि वह क़ौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमग़े दें, उसके लिए विद्यालय खोलें, पत्र निकालें और जनता में प्रोपेगैंडा करें। राष्ट्र के रूप में संघटित हुए बग़ैर हमारा दुनिया में ज़िन्दा रहना मुश्किल है। यक़ीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन-सी है। मगर दूसरी क़ौमों के साथ क़ौमी भाषा देखकर सिद्ध होता है कि क़ौमियत के लिए लाज़िमी चीज़ों में भाषा भी है और जिसे एक राष्ट्र बनाना है, उसे एक क़ौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी। इस हक़ीक़त को हम मानते हैं; लेकिन सिर्फ़ ख़याल में। उस पर अमल करने का

हममें साहस नहीं है। यह काम इतना बड़ा और मार्के का है कि इसके लिए एक ऑल इण्डिया संस्था का होना ज़रूरी है जो इसके महत्त्व को समझती हुई इसके प्रचार के उपाय सोचे और करे।

लिपि का सवाल

भाषा और लिपि का सम्बन्ध इतना क़रीबी है कि आप एक को लेकर दूसरे को छोड़ नहीं सकते। संस्कृत से निकली हुई जितनी भाषाएँ हैं, उनको एक लिपि में लिखने में कोई बाधा नहीं है, थोड़ा-सा प्रांतीय संकोच चाहे हो। पहले भी स्व० बाबू शारदाचरण मित्रा ने एक 'लिपि-विस्तार-परिषद्' बनाई थी और कुछ दिनों तक एक पत्र निकालकर वह आन्दोलन चलाते रहे; लेकिन उससे कोई ख़ास फायदा न हुआ। केवल लिपि एक हो जाने से भाषाओं का अन्तर कम नहीं होता और हिन्दी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि में। प्रान्तीय भाषाओं को हम प्रान्तीय लिपियों में लिखते जायँ, कोई एतराज़ नहीं; लेकिन हिन्दुस्तानी भाषा के लिए हिन्दी लिपि रखना ही सुविधा की बात है; इसलिए नहीं कि हमें हिन्दी लिपि से ख़ास मोह है; बल्कि हिन्दी लिपि का प्रचार बहुत ज़्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक़्क़त नहीं हो सकती। लेकिन उर्दू लिपि हिन्दी से बिल्कुल जुदा है। और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिन्दी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर ज़बान एक हो जाय, तो लिपि का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता। अगर उर्दूदाँ आदमी को मालूम हो जाय कि केवल हिन्दी अक्षर लिखकर वह डा० टैगोर या महात्मा गान्धी के विचारों को पढ़ सकता है, तो वह हिन्दी सीख लेगा। यू० पी० प्राइमरी स्कूलों में तो दोनों लिपियों की शिक्षा दी जाती है। हर एक बालक उर्दू और हिन्दी की वर्णमाला जानता है। जहाँ तक हिन्दी लिपि पढ़ने की बात है, किसी उर्दूदाँ को एतराज़ न होगा। स्कूलों में हफ़्ते में एक घण्टा दे देने से हिन्दीवालों को उर्दू और उर्दूवालों को हिन्दी लिपि सिखाई जा

सकती है। लिखने के विषय में यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। उर्दू में स्वर आदि के ऐब होने पर भी उसमें गति का ऐसा गुण है, जिसे उर्दू जाननेवाले नहीं छोड़ सकते और जिन लोगों का इतिहास और संस्कृति और गौरव उर्दू लिपि में स्वरक्षित है, उनसे मौजूदा हालत में उसके छोड़ने की आशा नहीं की जा सकती। उर्दूदाँ लोग हिन्दी जितनी आसानी से सीख सकते हैं, इसका लाज़िम नतीजा यह होगा कि ज्यादातर लोग लिपि सीख जायँगे और राष्ट्र-भाषा का प्रचार दिन-दिन बढ़ता जायगा। लिपि का फैसला समय करेगा। जो ज्यादा जानदार है, वह आगे आयेगी। दूसरी पीछे रह जायगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना घोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस शर्त को मानकर चलना है कि हिन्दी और उर्दू दोनों ही राष्ट्र-लिपि हैं और हमें अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि में उसका व्यवहार करें। हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति, और हमारे संस्कार इसका फ़ैसला करेंगे।

—

[बम्बई के 'राष्ट्र-भाषा-सम्मेलन' में स्वागताध्यक्ष की हैसियत से २७-१०-'३४ को दिया गया भाषण।]